प्राकृत भारती पुष्प : 77

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

द्वितीय पर्वगत

भ. अजितनाथ एवं सगर चक्री चरित

अनुवादक :

श्री गणेश ललवानी

एवं

श्रीमती राजकुमारी बेगानी

प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर माकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशकीय

अप्रतिम प्रतिभाधारक, कलिकाल-सर्वज्ञ, परमार्हत् कुमारपाल-प्रतिबोधक, स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्राचार्यरचित त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित का द्वितीय पर्व जिसमें द्वितीय तीर्थङ्कर श्री अजितनाथ भगवान् एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का चरित गुंफित है, प्राकृत भारती के पुष्प संख्या 77 के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ, शलाका - पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष अथवा सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च 63 पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी के 63 महापुरुष हुए हैं उनमें 24 तीर्थङ्कर, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव और 9 बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं 63 महापुरुषों के जीवन-चरितों का सङ्कलन इस 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे 10 पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त महापुरुषों के जीवनचरित संगृहीत हैं। द्वितीय पर्व 6 सर्गों में विभक्त है जिसमें द्वितीय तीर्थङ्कर भगवान् अजितनाथ एवं चक्रवर्ती सागर का साङ्गोपाङ्ग जीवन गूंथा गया है।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरियं' नाम से इन 63 महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने 9 प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः 63 के स्थान पर 54 महापुरुषों की जीवनगाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र 12वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सारस्वत पुत्र थे, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखिनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे; अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राज-ऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय तथा विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम, के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्य शास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखते हैं—

'चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत्

चालुक्य-कुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्र सूरि से विनयपूर्वक कहा—"हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरा आदि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है तथा पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहंत के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं संप्रति राजा जैसा हो गया हूं। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से आपने पंचांगोपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल 'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए 'द्व्याश्रव काव्य, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन और नाम-संग्रह कोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अत: हे आचार्य! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए 63 शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।"

इससे स्पस्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत् 1220 के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानस स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बंधी पुराण कथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकरण कालातीत हैं। यथा—"शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित बणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, धनवान-विद्वान्, अहङ्कार रहित गुणवान्, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।"

श्री गणेश ललवानी इस पुस्तक के अनुवादक हैं। ये बहुविध विधाओं के सफल शिल्पी हैं। उन्होंने इसका बंगला भाषा में अनुवाद किया था और उसी का हिन्दी रूपान्तरण श्रीमती राजकुमारी बेगानी

ने सफलता के साथ किया है। शब्दावली में कोमलकान्त पदावली और प्राञ्जलता पूर्णरूपेण समाविष्ट है। इसके सम्पादन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अनुवाद कौन से पद्य से कौन से पद्य तक का है, यह संकेत प्रत्येक गद्यांश के अन्त में दिया गया है। हम श्री गरोश ललवानी और श्रीमती राजकुमारी बेगानी के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने इसके प्रकाशन का श्रेय प्राकृत-भारती को प्रदान किया और हम उनसे पूर्णरूपेण आशा करते हैं कि इसी भांति शेष 8 पर्वों का अनुवाद भी हमें शीघ्र ही प्रदान करें जिससे हम सम्पूर्ण ग्रन्थ धीरे-धीरे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

पारसमल भंसाली	**म. विनयसागर**	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
जैन श्वे. नाकोड़ा	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर	जयपुर	जयपुर

अनुक्रम

द्वितीय पर्व

प्रथम सर्ग—अजितनाथ का प्रथम व द्वितीय भव 1—21

द्वितीय सर्ग—तृतीय भव, तीर्थंकर एवं सगर चक्रवर्ती की माताओं के चौदह स्वप्न, फल, दोनों का जन्म और जन्मोत्सव। 21—54

तृतीय सर्ग—दोनों की बाल्यावस्था, यौवन, रूप, विवाह, राज्य प्राप्ति, त्याग, सगर को राज्य प्राप्ति, अजितनाथ की दीक्षा, केवलज्ञान, देशना, तीर्थ-स्थापना। 55—112

चतुर्थ सर्ग—सगर की षट्खण्ड विजय और चक्रवर्ती-पदप्राप्ति 113—134

पंचम सर्ग—सगर और भगवान के प्रश्नोत्तर, राक्षसवंश सगर पुत्रों की यात्रा, अष्टापद, सगर-पुत्रों का मरण। 135—145

षष्ठ सर्ग—इन्द्र का ब्राह्मण बनकर सगर की राज्यसभा में जाना, सगर का शोक, उपदेश, भागीरथ का गङ्गा को समुद्र में डालना, सगर की दीक्षा और मुक्ति, अजितनाथ का परिवार, निर्वाण व निर्वाण-महोत्सव। 146—187

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

श्री अजितस्वामि-सगरचक्रवर्ति-चरित

द्वितीय पर्व

प्रथम सर्ग

सोन मणि की शोभा को जय करने वाले एवं नमस्कार करते समय इन्द्र के मुख के दर्पण तुल्य श्री अजितनाथ भगवान् के चरण-कमलों के नख सर्वदा जयवन्त हों। (श्लोक १)

यहां (अर्थात् भगवान् ऋषभदेव के चरित्र दर्पण के पश्चात्) मैं (हेमचन्द्राचार्य) कर्म रूपी पाप विनष्ट करने के लिए जांगुलि मन्त्र के समान भगवान् अजितनाथ के चरित्र का वर्णन करता हूं।

(श्लोक २)

प्रथम भव

समस्त द्वीपों में नाभि के समान जम्बूद्वीप के मध्य भाग में जहां दु:षमा-सुषमा नामक चतुर्थ आरा सर्वदा वर्तमान रहता है ऐसा यहां विदेह नामक क्षेत्र था। उस क्षेत्र में सीता नामक महानदी के दक्षिण तट पर महा समृद्धिशाली वत्स नामक एक देश था। मानो स्वर्ग का एक टुकड़ा ही धरती पर उतर आया हो इतना अद्भुत सौन्दर्य लिए वह देश सुशोभित हो रहा था। वहां एक गांव के पश्चात् दूसरा गांव, एक नगर के पश्चात् दूसरा नगर अवस्थित होने के कारण शून्यता तो मात्र आकाश में ही थी। गांव और नगर की समृद्धि एक समान होने के कारण उनका पार्थक्य केवल राज्याश्रय से ही अनुभूत होता। वहां स्थान-स्थान पर मानो क्षीर समुद्र की धारा से भरी हों ऐसे स्वच्छ और सुमधुर जल की वापिकाएं थीं। महात्माओं के अन्त:करण की तरह स्वच्छ, विशाल एवं जिनकी गम्भीरता जानी नहीं जा सकती ऐसे सरोवर थे। पृथ्वी रूपी देवी के वल्लियों के विलास को विस्तृत करने वाली सब्ज लताओं से सुशोभित उद्यान थे। गांव-गांव में पथिकों की प्यास

हरने के लिए गन्ने के खेत रस रूपी घड़े जैसे गन्नों द्वारा सुशोभित थे। प्रत्येक गोकुल में मानो दूध की नदी ने शरीर धारण कर लिया हो ऐसी दुग्ध प्रस्रवणकारिणी गौएं पृथ्वी को सिंचित करती थीं। कुरुक्षेत्र के कल्पवृक्ष जिस प्रकार युगलों द्वारा शोभित होते हैं उसी प्रकार फल प्रदान करने वाले वृक्ष तल उपविष्ट पथिकों द्वारा सुशोभित थे। (श्लोक ३-१३)

इसी देश में पृथ्वी के तिलक स्वरूप ऐश्वर्य के भण्डार यथा-नाम तथा गुण सम्पन्न सुसीमा नामक एक नगरी थी। असाधारण समृद्धिमय पृथ्वी के मध्य भाग में किसी असुर देवता की कोई नगरी प्रकट हो गई हो इस भांति वह नगरी-रत्न सुशोभित थी। उस नगरी में अकेली लड़कियां भी रत्नमय दीवारों पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण सखियों से परिवृत लगती थीं। उस नगरी के चारों ओर समुद्र-सी परिखायुक्त और विचित्र रत्नमय शिला निर्मित जम्बूद्वीप के प्राकार-सी प्राकार थी। मदजल वर्षणकारी हाथियों के घूमने-फिरने से पथ की धूल उसी प्रकार शान्त थी जिस प्रकार वर्षा होने पर शान्त हो जाती है। सूर्यालोक जिस भांति कमलिनी कोष में प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार कुलवती स्त्रियों के अवगुण्ठन में भी प्रवेश नहीं कर पाता। चैत्यों के ऊपर की पताकाएं इस प्रकार उड़ती रहतीं मानो वे हाथ के इशारे से कहती—तुम प्रभु-मन्दिर का उल्लंघन मत करो। आकाश को श्याम वर्ण बनाने वाले और पृथ्वी को जलपूर्ण करने वाले उद्यान धरती पर उतर आए मेघों-से लगते थे। गगनचुम्बी शिखरयुक्त स्वर्ण और रत्नमय हजार-हजार क्रीड़ा-पर्वत मेरुपर्वत की भांति शोभायमान थे। वह नगरी ऐसी प्रतिभासित हो रही थी मानो धर्म, अर्थ और काम ने एक उच्च प्राकार विशिष्ट संकेत स्थान का निर्माण किया है। ऊपर और नीचे आकाश में एवं पाताल में स्थित अमरावती और भोगवती के मध्य अवस्थित अतुल सम्पत्तिशाली वह नगरी ऐसी प्रतीत होती मानो उनकी सहोदरा हो। (श्लोक १४-२४)

उसी नगरी में चन्द्रमा के समान निर्मल और गुण रूप किरणों से विमल आत्म-सम्पन्न विमलवाहन नामक राजा राज्य करते थे। वे प्रजा का पालन-पोषण करते, उन्हें गुणवान बनाते, उन्नतिशील बनाते। वे स्वकृत अन्याय को भी सहन नहीं करते थे

कारण, जो चतुर होते हैं वे स्वदेह उत्पन्न फोड़े का भी इलाज करवाते हैं। बड़े पराक्रमी थे वे राजा। वायु जिस प्रकार वृक्ष शाखाओं को झुका देती है उसी प्रकार उन्होंने लीलामात्र में ही अपने चारों ओर स्थित राजाओं के मस्तक झुका दिए थे। तपोधन महात्मा जिस प्रकार अनेक भाँति प्राणियों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार वे निरन्तर त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) का पालन करते। वृक्ष जिस प्रकार उद्यान को सुशोभित करते हैं उसी प्रकार उदारता, धैर्य, गम्भीरता, क्षमा आदि गुण उन्हें सुशोभित करते। सौभाग्य और उनकी विस्तृत गुणराजि बहुत दिनों पश्चात् आए मित्र की भाँति मिली थी। पवन-गति की तरह पराक्रमी उन राजा का शासन पर्वत, अरण्य एवं दुर्ग आदि प्रदेशों में भी अव्याहत था। समस्त दिशाओं को आक्रान्त कर जिसका तेज प्रसारित है ऐसे उन राजा के चरण समस्त राजाओं के मस्तक को स्पर्श करते। जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् उनके एक मात्र स्वामी थे वे भी उसी प्रकार समस्त राजाओं के एकमात्र स्वामी थे। इन्द्र की भाँति शत्रु शक्तियों को नाशकारी वे राजा स्वमस्तक मात्र साधु पुरुषों के सम्मुख ही झुकाते थे। उन विवेकी राजा की शक्ति वाह्य शत्रुओं को जय करने में जिस भाँति अतुल थी उसी प्रकार काम क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को जय करने में भी अपरिमेय थी। स्व-बल से उन्मार्गगामी और दुर्मद हस्ती अश्वादि को वे जिस प्रकार दमन करते थे उसी प्रकार उन्मार्गगामी स्वइन्द्रियों का भी दमन करते थे। सुपात्र में दिया हुआ दान सीप के मुख में पड़े मेघ जल की भाँति फलदायी होता है यह विवेचना कर वे दानशील राजा यथाविधि सुपात्र को दान देता। दूसरों के आवास में जिस प्रकार सावधानी पूर्वक प्रवेश कराया जाता है उसी सावधानी से वे राजा समस्त स्थानों में अपनी प्रजा को धर्म पथ पर चलाते। चन्दन वृक्ष जिस प्रकार मलयाचल की मिट्टी को सुगन्धमय करता है उसी प्रकार वे स्व पवित्र चरित्र से समस्त जग को सुवासित करते। शत्रुओं को जय करने में, पीड़ितों की रक्षा करने में एवं याचकों को प्रसन्न करने में वे राजा युद्धवीर, दयावीर और दानवीर कहकर अभिहित होते थे। इस प्रकार वे राजधर्म में स्थित होने पर भी बुद्धि को स्थिर कर प्रमाद परित्याग कर, सर्पराज जैसे अमृत की रक्षा करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी की रक्षा करते थे। (श्लोक २५-४२)

कार्य-अकार्य के ज्ञाता एवं सार-असार का अनुसन्धान करने वाले उन राजा के मन में एक दिन संसार से वैराग्य हो गया। अतः वे सोचने लगे—ओह ! लक्ष योनि रूप महान् आवर्त्त में पतन के क्लेश से भयंकर इस संसार समुद्र को धिक्कार है। फिर भी दुःख तो यह है कि इस संसार में स्वप्न जाल की तरह क्षण उत्पन्न क्षण विनष्ट पदार्थ में समस्त प्राणी विमोहित हैं। यौवन पवन-आन्दोलित पताका की भाँति चंचल है और आयु पत्र स्थिति जल बिन्दु की तरह नाशवान है। इस आयु का कितना ही समय तो गर्भावास की तरह दुःख में व्यतीत होता है। उस स्थिति का तो एक मास भी पल्योपम की भांति दीर्घ लगता है। जन्म होने के पश्चात् आयु का बहुत हिस्सा बाल्यकाल में अन्धे की तरह पराधीनता में बीतता है। यौवन में इसी प्रकार इन्द्रियों को आनन्दकारी स्वादिष्ट पदार्थों के उपभोग में उन्मत्त की तरह व्यर्थ ही नष्ट होता है और वृद्धावस्था में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के सेवन में अशक्त जीव की शेष आयु निद्रित मनुष्य की भाँति व्यर्थ चली जाती है। विषय स्वाद में लम्पट बना मनुष्य रोगी की तरह ही रोग से कम्पित होता है। यह जानते हुए भी संसारी जीव संसार भ्रमण का ही प्रयास करता है। मनुष्य यदि यौवन में जिस प्रकार विषय सेवन का यत्न करता है उस प्रकार ही यदि मुक्ति के लिए प्रयत्न करता तो उसे अभाव रहता ही कहाँ ? मकड़े जिस प्रकार स्व लार से बने जाल में आबद्ध होते हैं उसी प्रकार जीव भी स्वकर्म जाल में आबद्ध हो जाता हैं। समुद्र में युगशमिला प्रवेश न्याय की तरह जीव पुण्य योग से बहुत परिश्रम करने के पश्चात् मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। उस पर भी आर्य देश में जन्म, उच्च कुल की प्राप्ति और गुरु सेवा रूपी कष्टप्राप्त साधन पाकर भी स्वकल्याण का प्रयास नहीं करता। उसकी अवस्था भोजन पक जाने के पश्चात् भी भूखा रह जाने वाले मानव जैसी है। ऊर्ध्वगति (स्वर्गादि) और अधोगति (नरकादि) पाना अपने ही वश में होता है। फिर भी जड़ बुद्धि सम्पन्न जीव जल की तरह नीचे की तरफ ही जाता है। जब समय आएगा तब धर्म ध्यान करूँगा ऐसा विचार करने वाले जीव को यमदूत इस प्रकार पकड़ कर ले जाते हैं जिस प्रकार अरण्य में चोर डाकू असहाय मनुष्य को पकड़ ले जाते हैं। जिस परिवार का पापकर्म करके भी पालन-पोषण करता

है उन्हीं समस्त पारिवारिक लोगों के सम्मुख ही काल आकर भिखारी-से असहाय जीव को पकड़ ले जाता है। नरकगति प्राप्त जीव वहाँ अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है। कारण कर्ज की तरह कर्म भी जन्म-जन्मान्तरों तक प्राणी के साथ ही जाता रहता है। यह मेरी माँ है, यह मेरी पत्नी, यह मेरा पुत्र, इस भांति की जो ममता भरी बुद्धि है वह मिथ्या है। क्यों कि जब यह देह ही अपनी नहीं है तब अन्य का तो कहना ही क्या ? भिन्न-भिन्न गति से आए माता-पिता आदि की अवस्था तो उन पक्षियों जैसी है जो पृथक-पृथक दिशाओं से आकर एक डाल पर आश्रय लेते हैं या उन पथिकों की तरह है जो विभिन्न दिशाओं से आकर एक सराय में रात्रिवास कर सबेरा होते ही अलग-अलग स्थानों पर जाने की राह पकड़ लेते हैं। (श्लोक ४३-६३)

माता-पिता भी इसी प्रकार विभिन्न गतियों में गमन करते हैं। कुएँ के जल-यन्त्र की भाँति आवागमनमय इस संसार में प्राणियों का अपना कोई नहीं है। इसीलिए कुटुम्बादि जो त्याग करने योग्य है प्रारम्भ से ही उनका परित्याग और आत्महित का प्रयास करना चाहिए। कहा भी गया है आत्महित से भ्रष्ट होने का नाम ही मूर्खता है। निर्वाण लक्षण युक्त यह आत्महित एकान्त और अनेकों सुखप्रदानकारी है। यह मूल और उत्तर गुणों द्वारा सूर्य किरणों की भांति प्रकट होता है। (श्लोक ६४-६६)

जिस समय राजा यह चिन्तन कर रहे थे उसी समय चिन्तामणि रत्न-से अरिंदम नामक सूरि महाराज उद्यान में पधारे। उनके आगमन का संवाद सुनकर राजा को अमृत पान-सा आनन्द हुआ। अतः वे मयूर पंखों के छत्रों से सारे आकाश मानो मेघयुक्त कर रहे हों इस प्रकार सूरि महाराज को वन्दन करने गए। लक्ष्मी देवी के दोनों कटाक्ष हों इस प्रकार उनके दोनों ओर दो चँवर डुलवाने लगे। स्वर्ण कवच युक्त होने से मानो सुवर्ण पंख लगे हों एवं गति द्वारा पवन को भी परास्त करने वाले वेगवान अश्वों से वे समस्त दिशाओं को पूरित करने लगे। मानो अंजनांचल के चलमान शिखर हों इस प्रकार वृहदाकार हस्तियों के भार से पृथ्वी को झुकाने लगे। अपने स्वामी के मनोभावों को ज्ञात कर जैसे उन्हें मनःपर्याय ज्ञान प्राप्त हो गया हो ऐसे सामन्त राजा भक्ति से प्रेरित

होकर उनके साथ हो गए। चारणों के कोलाहल से प्रतिस्पर्धा कर रहा हो ऐसा आकाश प्रसारित करने वाला मङ्गल तूर्य का शब्द दूर से ही उनके आगमन की सूचना देने लगा। हस्तिनियों पर बैठी शृङ्गार-रस की नायिकाओं-सी हजार-हजार वारांगनाएँ उनके साथ थीं। इस प्रकार हाथी पर आरूढ़ वे राजा वृक्षधाम-से नन्दन वन तुल्य उस उद्यान के निकट जाकर उपस्थित हुए। फिर राजाओं में कुंजरतुल्य उस राजा ने हस्ती से अवतरण कर सिंह जिस प्रकार पर्वत कन्दरा में प्रवेश करता है उसी प्रकार उद्यान में प्रवेश किया।

(श्लोक ६७-७६)

वहां उन्होंने दूर से ही वज्र कवच की तरह कामदेव के शर के लिए अभेद्य, राग रूपी रोग के लिए औषध तुल्य, द्वेष रूपी शत्रु को तापदायककारी, क्रोध रूपी अग्नि के लिए नवीन मेघ तुल्य, मान रूपी वृक्ष के लिए हाथी के समान, माया रूपी सर्पिणी के लिए गरुड़-से, लोभ रूपी पर्वत के लिए वज्र-से, मोहान्धकार के लिए सूर्य-से, तप रूपी अग्नि के लिए अरणि-से, क्षमा में पृथ्वी तुल्य, बोधि-बीज के लिए जलधारा रूप, आत्मलीन महामुनि आचार्य अरिंदम को देखा। उनके समीप साधु-समुदाय उपविष्ट था। कोई उत्कटिक आसन में तो कोई वीरासन में, कोई वज्रासन में तो कोई पद्मासन में, कोई गो-दुहिका आसन में तो कोई भद्रासन में, कोई दण्डकासन में तो कोई वल्गुलिक आसन में, कोई क्रौंचपक्षी आसन में तो कोई हंसासन में, कोई पर्यङ्कासन में तो कोई उष्ट्रासन में, कोई गरुड़ासन में तो कोई कपालीकरण आसन में, कोई आम्रकुंजासन में तो कोई स्वस्तिकासन में, कोई दण्ड पद्मासन में तो कोई सोपाश्रय आसन में, तो कोई कायोत्सर्ग आसन में एवं कोई वृषभासन में बैठे थे। युद्ध क्षेत्र के सैनिकों की तरह विविध उपसर्ग सहन कर वे लोग स्वदेह की भी परवाह न कर गृहीत संयम का निर्वाह कर रहे थे। उन लोगों ने अन्तरंग शत्रुओं को जयकर लिया था एवं परिषह सहन करते हुए ध्यान मग्न थे। (श्लोक ७७-८८)

आचार्य-श्री के समीप जाकर राजा ने उन्हें वन्दन किया। उनका शरीर आनन्द से रोमांचित हो उठा। रोमांच के बहाने मानो वे अंकुरित भक्ति को धारण किए हों ऐसे लग रहे थे। आचार्य महाराज ने मुख के पास मुख वस्त्रिका लगाकर समस्त कल्याण की

जननी रूप धर्मलाभ रूप ग्राशीर्वाद दिया। फिर राजा कच्छप की तरह शरीर संकुचित कर अवग्रह भूमि को छोड़कर करबद्ध बने गुरु महाराज के सम्मुख बैठ गए। इन्द्र जिस प्रकार तीर्थङ्करों की देशना सुनते हैं उसी भांति वे ध्यानपूर्वक ग्राचार्यश्री की देशना सुनने लगे। शरद् ऋतु में चन्द्रमा जिस प्रकार विशेष उज्ज्वल होता है उसी प्रकार ग्राचार्य महाराज की देशना से राजा का वैराग्य बढ़ गया। तदुपरान्त वे हाथ जोड़कर विनययुक्त वाणी में बोले :

'हे भगवन् ! संसार रूपी विषवृक्ष के ग्रनन्त दुःख रूपी फल ग्रनुभव करने पर भी मनुष्य को वैराग्य नहीं होता; किन्तु ग्रापको वैराग्य हुग्रा ग्रौर ग्रापने संसार का परित्याग भी कर दिया। इसका ग्रवश्य ही कोई कारण है वह कृपा कर बताइए।'

(श्लोक ८९-९६)

राजा द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर ग्रपने दांतों की किरण रूपी चन्द्रिका से ग्राकाशतल को उज्ज्वल करते हुए ग्राचार्य महाराज बोले—'राजन्, इस संसार के समस्त कार्य बुद्धिमानों के लिए वैराग्य के ही कारण होते हैं; किन्तु उनमें कोई एक ही संसार त्याग करते हैं। मैं जब गृहवास में था तब एक बार हस्ती, ग्रश्व, रथ ग्रौर पदातिक सेना लेकर दिग्विजय करने निकला। राह में चलते हुए मैंने एक ग्रत्यन्त सुन्दर उद्यान देखा जो वृक्षों की छाया से जगत में भ्रमण करने के कारण थकी हुई लक्ष्मी का विश्राम-स्थल-सा लगा। वह स्थान कंकोल वृक्ष के चंचल पल्लवों से मानो नृत्य कर रहा था, मल्लिका के पुष्प गुच्छों से जैसे हंस रहा था, विकसित कदम्ब पुष्पों के समूह से रोमांचित हो रहा था, प्रस्फुटित केतकी के पुष्प रूपी नेत्रों से निहार रहा था, शाल ग्रौर ताल वृक्ष रूपी ऊंची बाहुग्रों से सूर्य किरणों को वहां गिरने से मना कर रहा था, वटवृक्षों से पथिकों को गुप्त स्थानों का संकेत दे रहा था। नाले का जल पादय (पैर धोने के लिए जल) प्रस्तुत कर रहा था। फव्वारों से झरता जल मानो वर्षा को शृङ्खलाबद्ध कर रहा था। गुंजन करते हुए भ्रमर मानो पथिकों को पुकार रहे थे। तमाल, ताल, हिन्ताल ग्रौर चन्दनवृक्ष तले मानो सूर्य किरणों के भय से ग्रन्धकार ने ग्राश्रय ले लिया है ऐसा प्रतीत हो रहा था। ग्राम, चम्पक, नागकेशर ग्रौर केशर वृक्ष पर मानो सुगन्ध लक्ष्मी का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो गया था। ताम्बूल, चिरजी ग्रौर द्राक्षालता के प्रति

विस्तार ने मानो पथिकों के लिए अनायास ही रतिमण्डप की रचना कर दी हो एवं मेरुपर्वत की अधित्यका से मानो भद्रशालवन उठकर वहां चला आया हो इस प्रकार उस समय वह अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। (श्लोक ९७-१०९)

'अनेक दिनों पश्चात् जब मैं दिग्विजय कर उस उद्यान के निकट लौटा, वाहन से उतर कर सपरिवार आनन्द उल्लास से भरा उस उद्यान के भीतर गया तो उसका दूसरा ही रूप देखा। मैं सोचने लगा—कहीं मैं दूसरे उद्यान में तो नहीं आ पहुँचा? या यह उद्यान ही पूर्णतः बदल गया है? कहीं यह सब इन्द्रजाल तो नहीं? कहां सूर्य किरणों को आच्छादित करने वाली वे पत्र लताएँ, कहां उत्ताप का एकच्छत्र रूप लिए यह पत्र-विरलता? कहां निकुंजों में विश्रामकारी रमणियों की रमणीयता, कहां निद्रित पड़े अजगरों की दारुणता? कहां मयूर और कोकिलाओं का मधुर आलाप, कहां चपल कागों के कर्णकटु शब्दों से वर्द्धित व्याकुलता? कहां लम्बी आर्द्र वल्कल वस्त्रों की सघनता, कहां सूखी डालियों पर झूलते हुए भुजङ्ग समुदाय? कहां सुगन्धित पुष्पों से सुरभित दिक्-समूह, कहां कौवे कबूतरों आदि की बिष्ठाओं से दुर्गन्धमय बना यह स्थान? कहां पुष्परसों से सिंचित वह भूमि, कहां जलती हुई चुल्ली पर तपती दुःखदायी बालुकाराशि? कहां फल-भारों से झुके वृक्ष, कहां दीमक लगे खोखले तरु खण्ड? अनेक लताओं से पल्लवित कहां वे सुन्दर झाड़, कहां सर्प परित्यक्त कंचुकी-से भयंकर बने ये झाड़? कहां वृक्षों के नीचे झरे हुए ढेर के ढेर फूल, कहां उगे हुए ये कण्टक समूह? इस प्रकार असुन्दर बने उस उद्यान को देखकर सोचने लगा—जिस प्रकार यह उद्यान सुन्दर से असुन्दर में बदल गया है उस प्रकार ही है समस्त संसारी जीवों की भी परिणति। जो मनुष्य स्व-सौन्दर्य से कामदेव-सा प्रतीत होता है वही मनुष्य भयङ्कर रोग होने से कुरूप हो जाता है। जो मनुष्य सुन्दर वाणी में बृहस्पति के समान उत्तम भाषण दे सकता है वही जीभ आड़ष्ट हो जाने पर सदा के लिए गूंगा हो जाता है। जो मनुष्य अपनी सुन्दर गति के कारण जातिवान् अश्व की तरह विचरण कर सकता है वही वायु आदि रोगों से पीड़ित होने पर चिरकाल के लिए पंगु बन जाता है। जो मनुष्य अपने बलिष्ठ हाथों से हस्ती मल्ल के समान काम कर सकता है वही रोगादि से हाथों की शक्ति खोकर

ठूँठ हो जाता है। जिस मनुष्य की नेत्रशक्ति कभी गिद्धों की तरह तीव्र थी वही आँखों की रोशनी खोकर कभी देखने में भी असमर्थ हो जाता है। हाय रे मानव देह! क्षण में सुन्दर तो क्षण में असुन्दर, क्षण में दृष्ट तो क्षण में अदृष्ट हो जाता है। इसी भाँति विचार करते-करते मैं मन्त्र-शक्ति की भाँति संसार से विरक्त हो गया। तब मैंने महामुनि के निकट जाकर तृण के लिए अग्नि की तरह एवं निर्वाण प्राप्ति के लिए चिन्तामणि रत्न तुल्य महाव्रतों को ग्रहण कर मुनि दीक्षा ले ली।' (श्लोक ११०-१३०)

उनकी बात सुनकर पुनः मुनिश्री को प्रणाम कर वे विवेकी और भक्तिवान् राजा बोले---'आप जैसे निरीह और ममत्वहीन पूज्य सत्पुरुष हम लोगों के लिए पुण्यवश ही पृथ्वी पर विचरण करते हैं। सघन तृणों से ढके अन्धकूप में जिस प्रकार पशु गिर पड़ते हैं उसी प्रकार मानव इस अति घोर संसार के विषय सुखों में पतित हो जाता है और दुःख पाता है। उस दुःख से बचाने के लिए हे दयालु भगवन्, प्रतिदिन घोषणा की तरह आप देशना देते रहते हैं। इस असार संसार में गुरुवाक्य ही एकमात्र सार है, अत्यंत प्रिय स्त्री, पुत्र और बन्धु-बान्धव नहीं। अब मुझे मेरी विद्युत-सी चंचल लक्ष्मी, भोग के समय सुखदायी; किन्तु परिणाम में भयंकर, विष के समान विषय भोग और केवल इसी जन्म के लिए मित्र-से स्त्री, पुत्रों से कोई प्रयोजन नहीं है। अतः हे भगवन्, मुझ पर कृपा करिए और संसार-समुद्र को पार करने में नौका सम दीक्षा दीजिए। जब तक मैं नगर में जाकर पुत्र को राज्य देकर लौट नहीं आता हूँ तब तक हे दयालु पूज्यपाद, आप इसी स्थान को अलंकृत करते रहें। (यह मेरी प्रार्थना है।)' (श्लोक १३१-१३८)

आचार्यश्री उत्साहवर्द्धक वाणी में बोले—'हे राजन्, तुम्हारी इच्छा अति उत्तम है। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण तुम तत्त्वों को पहले से ही जानते हो। इसलिए तुम्हें देशना देना दृढ़ मनुष्य के हाथों सहारा देने का निमित्त मात्र है। गोपालक की विशेषता से गाय जिस प्रकार कामधेनु जैसी होती है इसी भाँति तुम जैसों को दी हुई दीक्षा तीर्थङ्कर पद प्रदायक होती है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए मैं यहीं अवस्थित हूं। कारण, मुनि भव्यजनों का उपकार करने के लिए ही विचरण करते हैं।'

(श्लोक १३९-१४२)

आचार्य का कथन सुनकर राजाओं में सूर्य-से वे राजा उन्हें प्रणाम कर उठ खड़े हुए क्योंकि मनस्वी पुरुष निश्चित कार्य में आलस्य नहीं करते। यद्यपि राजा का चित्त आचार्य के चरण-कमलों में निमग्न था फिर भी जिस प्रकार दुर्भागा स्त्री के पास जबर्दस्ती जाता है उसी प्रकार वे राजमहल में गए। वहाँ सिंहासन पर बैठकर प्रासाद के स्तम्भ से मन्त्रियों को बुलवाया और उन्हें बोले : (श्लोक १४३-१४५)

'हे मन्त्रीगण, परम्परा से जिस प्रकार मैं इस राज्य रूपी गृह का राजा हूं उसी प्रकार स्वामी के हित के लिए एक महाव्रतधारी तुम सब मन्त्री हो। तुम लोगों की मन्त्रणा से ही मैंने पृथ्वी को जय किया है। इसमें मेरा बाहुबल तो निमित्त मात्र है। पृथ्वी का भार जिस प्रकार घनवात, घनोदधि और तनुवात ने धारण कर रखा है उसी प्रकार तुम लोगों ने ही मेरे राज्य को धारण कर रखा है। मैं तो देवों की तरह प्रमादी बना दिन-रात विषयों में, विविध क्रीड़ाओं के रस में, लीन रहता हूँ। रात्रि के समय प्रदीप के आलोक में जिस प्रकार विवर देखा जा सकता है उसी प्रकार अनन्त भवों तक दुःखदायी इस प्रमाद को गुरु-कृपा रूपी प्रदीप के आलोक में अब देख सका हूँ। मैंने अज्ञान के कारण चिरकाल से इस आत्मा को वंचित कर रखा था। कारण विस्तृत होते प्रगाढ़ अन्धकार में नेत्रवान पुरुष भी क्या कर सकता है? हाय! इतने दिनों तक ये दुर्जन इन्द्रियाँ मुझे वायुवेगी अश्व की तरह उन्मार्ग पर ले जाती रहीं। मैं दुष्ट बुद्धि विभीतक वृक्ष की छाया-सेवन की तरह परिणाम में अनर्थकारी विषय-वासनाओं की आज तक सेवा करता रहा हूँ। गन्ध हस्ती जिस प्रकार अन्य हस्तियों का वध करता है उसी प्रकार अन्य के पराक्रम को नहीं सहने वाले मैंने दिग्विजय में अनेक निरपराधी राजाओं का वध किया है। मैं अन्य राजाओं के साथ सन्धि आदि गुणों से जुड़ता रहा; किन्तु उसमें तालवृक्ष की छाया की तरह सत्य कितना था? अर्थात् बिल्कुल नहीं। जन्म से ही मैंने अन्य राजओं के राज्यों को छीन लेने में अदत्तादान ग्रहणकारी का ही आचरण किया है। रतिसागर में डूबे रहने के कारण कामदेव का शिष्य हो इस प्रकार निरन्तर अब्रह्मचर्य का ही सेवन किया है। मैं प्राप्त अर्थ से अतृप्त था। अतः अप्राप्त अर्थ को पाने की ही सदैव इच्छा रखता था। एतदर्थ आज तक महामूर्च्छा में अभिभूत था।

जिस प्रकार किसी भी चाण्डाल के स्पर्श करने पर स्पृश्यता दोष दुष्ट बनाता है उसी प्रकार हिंसादि पाप कार्यों में कोई एक भी कार्य दुर्गति का कारण हो सकता है। इसलिए आज मैं वैराग्य द्वारा प्राणातिपात आदि पाँच पापों को गुरु महाराज के पास जाकर त्याग करूँगा। सन्ध्या के समय सूर्य जिस प्रकार स्व-तेज अग्नि में आरोपित कर देता है उसी प्रकार मैं स्वराज्य भार को कवचधर कुमार पर आरोपण करूँगा। तुम लोग कुमार के साथ भक्ति-भाव का व्यवहार करना। वैसे तो तुम लोगों को यह परामर्श देना ही आवश्यक नहीं है कारण, कुलवानों का तो स्वभाव ही ऐसा होता है।' (श्लोक १४६-१६२)

मन्त्री बोले—'हे स्वामी, मोक्ष से दूर व्यक्ति के मन में कभी ऐसी भावना का उदय नहीं होता। आपके पूर्वजों ने इन्द्र की तरह स्व-पराक्रम से जन्म से ही अखण्ड शासन द्वारा पृथ्वी स्व-अधीन रखी थी; किन्तु जब शक्ति आनिश्चित हो जाती तो वे थूक की तरह इस राज्य का परित्याग कर तीन पवित्र रत्नों को ग्रहण कर लेते थे। महाराज ने अपने भुजबल से इस पृथ्वी को धारण कर रखा है। हम तो केवल घर के भीतर जो कदली स्तम्भ होते हैं उसी प्रकार शोभित होते हैं। इस साम्राज्य को जिस प्रकार आपने कुल-परम्परा से प्राप्त किया है उसी प्रकार अवदान (पराक्रम) सहित और निदान (कारण रहित) व्रत करना भी आपने परम्परा से ही प्राप्त किया है। आपका ही द्वितीय चैतन्य हो ऐसे राजकुमार इस पृथ्वी का भार कमल की तरह सहजता से उठाने में समर्थ हैं। आप यदि मोक्ष फलदायी दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं तो आनन्दपूर्वक ग्रहण करिए। परिपूर्ण न्याय निष्ठा सम्पन्न और सत्त्व एवं पराक्रम से सुशोभित राजकुमार द्वारा आपकी ही भाँति यह पृथ्वी राज्यवती हो यही कामना है।' (श्लोक १६३-१७०)

मन्त्रियों के ऐसे आज्ञानुवर्ती वाक्यों को सुनकर राजा आनन्दित हुए और छड़ीदार द्वारा राजकुमार को बुला भेजा। मानो मूर्त्तिमान कामदेव हो ऐसे राजकुमार राजहंस की तरह चलते हुए वहाँ आए। साधारण अनुचर की भाँति करबद्ध होकर राजा को प्रणाम करते हुए यथोचित स्थान पर बैठ गए। अपनी अमृत रस तुल्य सार दृष्टि से मानो अभिसिंचित कर रहे हों इस प्रकार कुमार की ओर देखकर राजा बोले : (श्लोक १७१-१७४)

'हे वत्स, हमारे वंश के पूर्व राजागण दया बुद्धि से लोभ-रहित होकर वन में अकेले रहने वाली गाय की तरह इस पृथ्वी का पालन करते थे। जब उनका पुत्र समर्थ हो जाता तब वे पृथ्वी-पालन का भार उस पर इस प्रकार न्यस्त कर देते जिस प्रकार बैलों के स्कन्धों पर खींचने का धुरा रख दिया जाता है। त्रैलोक्य की वस्तुओं को अनित्य समझकर उनका त्याग कर शाश्वत पद अर्थात् मोक्ष के लिए वे प्रस्तुत हो जाते थे। हमारे कोई भी पूर्व पुरुष इतने दिनों तक गृहवास में नहीं रहे जितना मैं रहा हूं। यह मेरा कितना बड़ा प्रमाद था। हे पुत्र, अतः तुम अब राज्यभार ग्रहण करो। मेरा भार तुम ले लोगे तो मैं व्रत धारण कर संसार समुद्र का अतिक्रम करूँगा।' (श्लोक १७५-१७९)

राजा का कथन सुनकर कुमार उसी प्रकार निष्प्रभ हो गए जिस प्रकार हिम से कमल निष्प्रभ हो जाता है। आंखों में आंसू भरकर वे बोले—'हे देव, मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जो आप मुझ से इस प्रकार रुष्ट हुए हैं। आप अपनी आत्मा के प्रतिबिम्ब अपने अनुचर-से पुत्र को ऐसी आज्ञा क्यों दे रहे हैं ? या फिर इस पृथ्वी ने ऐसा कौन-सा अपराध किया है कि जिसका आप आज तक पालन करते रहे उसको तृण की तरह त्याग रहे हैं ? पूज्य पिताहीन इस राज्य की मुझे आकांक्षा नहीं। यदि सरोवर जलपूर्ण रहे; किन्तु उसमें कमल न हो तो भ्रमर के वह किस काम आ सकता है ? हाय, लगता है आज देव मेरे प्रतिकूल हो गए हैं। मेरा दुर्भाग्य आज प्रकट हुआ है। इसीलिए पाषाण खण्ड की तरह मेरा त्याग कर मेरे पिता मुझे ऐसा आदेश दे रहे हैं। मैं किसी भी प्रकार इस पृथ्वी को ग्रहण नहीं करूँगा और गुरुजन की आज्ञा का जो उल्लंघन कर रहा हूं उसका प्रायश्चित करूँगा।' (श्लोक १८०-१८५)

पुत्र के ऐसे आज्ञा उल्लंघनकारी वचनों को सुनकर राजा दुःखी भी हुए सुखी भी हुए; किन्तु बोले—'तुम एक साथ ही समर्थ विद्वान् और विवेकी भी हो फिर स्नेह के कारण अज्ञानवश बिना विचारे ऐसी बात क्यों कह रहे हो ? कुलीन पुत्रों के लिए गुरुजनों की आज्ञा विचार का विषय नहीं होता। मेरी उक्ति तो युक्तिसंगत है। अतः विचार कर इसे ग्रहण करो। योग्य पुत्र पिता का भार वहन करता ही है। सिंहनी शावक कुछ बड़ा होने पर निर्भय होकर विचरता है। हे वत्स, तुम्हारी इच्छा के बिना ही मैं मोक्ष प्राप्ति के

लिए इस राज्य का त्याग कर दूँगा । मैं तुमसे बाधित नहीं हूँ । अन्त में इस असहाय राज्य को तुम्हें ग्रहण करना ही होगा । फिर साथ-साथ मेरी आज्ञा उल्लंघन का पाप भी ढोना पड़ेगा । इसलिए हे पुत्र मुझ पर भक्तिवान् तुम विचार कर अथवा न कर मुझे सुखी बनाने के लिए मेरी आज्ञा स्वीकार करो ।' (श्लोक १८६-१९२)

मन्त्री भी बोले—'हे कुमार, आप तो स्वभावत: ही विवेकी हैं, आपकी उक्ति योग्य है फिर भी पिताजी जो आज्ञा दे रहे हैं उसे स्वीकार करना ही उचित है । कारण, गुरुजनों की आज्ञा स्वीकार करना जो गुण है वह सब गुणों में श्रेष्ठ हैं । आपके पिता ने भी अपने पिता की आज्ञा स्वीकार की थी । यह बात हम जानते हैं । जिसकी आज्ञा पालनीय ही होती है वह पिता के सिवाय और कौन हो सकता है ?' (श्लोक १९३-१९५)

पिता और मन्त्रियों का ऐसा कथन सुनकर कुमार ने सिर नीचे झुका लिया और गदगद कण्ठ से बोले—'स्वामी की आज्ञा मुझे स्वीकार है ।' उस समय राजा स्व-आज्ञा का पालन करने वाले पुत्र पर इस प्रकार प्रीतिमय हुए जिस प्रकार चाँद से कुमुद और मेघ से मयूर प्रीतिवान् होता है । प्रसन्न हुए राजा ने अभिषेक करने योग्य अपने पुत्र को अपने हाथ से सिंहासन पर बैठाया फिर उनकी आज्ञा से अनुचरगण मेघ की तरह तीर्थों का पवित्र जल ले आए । मङ्गल वाद्य बजने लगे, राजा ने तीर्थ जल से कुमार का अभिषेक किया । उसी समय अन्य सामन्त राजा भी आकर अभिषेक करने लगे और भक्तिभाव से नवोदित सूर्य की तरह उन्हें नमस्कार किया । पिता की आज्ञा से उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किया । इससे वे इस प्रकार शोभित होने लगे जिस प्रकार शरद ऋतु के शुभ्र मेघ से पर्वत शोभित होता है । तदुपरान्त वीराङ्गनाओं ने आकर चन्द्रिकापुर की भांति गोशीर्ष चन्दन का उनके समस्त शरीर पर लेप किया । उन्होंने जो मुक्तालङ्कार धारण किए थे वे ऐसे लग रहे थे मानो आकाश के तारों को लाकर सूत्र में पिरोकर इन अलङ्कारों को तैयार किया गया है । उनके प्रचण्ड प्रताप हों ऐसे माणिक्य की द्युति से शोभित मुकुट उनके मस्तक पर रखा एवं क्षणमात्र में जैसे यश प्रकाशित हो गया है ऐसा निर्मल छत्र उनके माथे के ऊपर धारण किया गया । दोनों ओर वीराङ्गनाएँ मानो राज्य सम्पत्ति रूप लता के पुष्पों को सूचित करती हो इस प्रकार

चँवर डुलाने लगीं। फिर महाराज ने स्व-हाथों से उनके ललाट पर उदयाचल के शिखर पर स्थित चन्द्र-सा चन्दन-तिलक किया। इस प्रकार राजा ने कुमार को महान् आनन्द से राज्य सिंहासन पर बैठाकर लक्ष्मी की रक्षा करने का मानो मन्त्र हो ऐसा उपदेश दिया— (श्लोक १९६-२०९)

'हे वत्स, आज से तुम राज्य के आधार हो, तुम्हारा आधार कोई नहीं है। अतः प्रमाद परित्याग कर अपनी आत्मा से पृथ्वी को धारण करो। आधार शिथिल होने पर आधेय भ्रष्ट हो जाता है। एतदर्थ विषयों के प्रति सेवन से उत्पन्न शिथिलता से तुम स्वयं को बचाओ। कारण, यौवन, धन, रूप और स्वामित्व इनमें कोई एक भी प्रमाद का कारण है और बुद्धिमानों की कार्य सिद्धि को नष्ट करने वाला है—इसे स्मरण रखना। कुल-परम्परा से आगत होते हुए भी दुराराध्य और छिद्रान्वेषणकारिणी यह लक्ष्मी राक्षसी की तरह प्रमादी व्यक्तियों की वंचना करती है। खूब पुराना स्नेह भी लक्ष्मी की स्थिरता का कारण नहीं होता। अतः उसे जब भी सुयोग मिलता है तभी सारिका की तरह उसी क्षण अन्यत्र चली जाती है। इसे कुलटा नारी की तरह बदनामी का भय भी नहीं होता। जागते रहने पर भी प्रमाद में पड़े पति को यह कुलटा नारी की तरह परित्याग कर चली जाती है। लक्ष्मी यह कभी नहीं सोचती कि मैंने इसके पास चिरकाल तक रक्षा प्राप्त की है। अवसर मिलते ही वह वानर की तरह कूदकर दूसरे स्थान पर चली जाती है। निर्लज्जता, चपलता और स्नेहहीनता के अतिरिक्त और भी उसमें कई अवगुण हैं। जल की तरह नीचे जाना भी उसके स्वभाव में है। ऐसी लक्ष्मी सर्वदुर्गुणयुक्त है फिर भी सभी उसे पाने का प्रयत्न करते हैं। इन्द्र भी जब लक्ष्मी पर आसक्त है तब अन्य का तो कहना ही क्या? उसे स्थिर रखने के लिए तुम पहरेदार की तरह नीति और पराक्रम सम्पन्न बनकर सर्वदा सावधान रहना। लक्ष्मी की इच्छा रखते हुए भी अलुब्ध की तरह सदा उसका पालन करना। कारण, स्त्रियाँ जिस प्रकार सुन्दर पुरुष की अनुगामिनी होती हैं उसी प्रकार लक्ष्मी भी हमेशा निर्लोभी के पीछे चलती है। ग्रीष्म के प्रचण्ड सूर्य की तरह कभी भी पृथ्वी को पीड़ित मत करना। जिस प्रकार उत्तम वस्त्र सामान्य-सा दग्ध होने पर भी परित्यक्त होता है उसी प्रकार सामान्य अन्याय करने वाले व्यक्ति का

भी परित्याग कर देना। मृगया द्यूत और मदिरा-पान सदा-सदा के लिए छोड़ देना। कारण, राजा जिस प्रकार तपस्वियों की तपस्या का भागीदार होता है उसी प्रकार पाप का भी भागीदार होता है। तुम काम, क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को जीतना। कारण, इन्हें जय किए बिना बाह्य शत्रुओं पर जय करना व्यर्थ है। चतुर नायक जिस प्रकार अनेक पत्नियों का यथा समय उपभोग करता है तुम भी उसी प्रकार धर्म, अर्थ और काम का यथा समय भोग करना। किसी को भी अन्य का बाधक मत बनने देना। इन तीनों की साधना इस प्रकार करना ताकि पुरुषार्थ मोक्ष की साधना में भी कोई विघ्न न आए, तुम्हारा उत्साह भंग न होए।'

(श्लोक २१०-२२६)

ऐसा कहकर राजा विमलवाहन जब चुप हो गए तब कुमार ने, ऐसा ही होगा, कहकर उनके वचनों को अंगीकार किया। फिर कुमार ने सिंहासन से उतरकर व्रत ग्रहण में उद्योगी पिता को हाथों का सहारा दिया। इस प्रकार छड़ीदार से भी स्वयं को छोटा समझने वाले पुत्र के हाथों का सहारा लेकर राजा अनेक कलशों से भूषित स्नानगृह में गए। वहाँ उन्होंने मकरमुखी स्वर्णझारी से निकलते मेघ धारा-से जल से स्नान किया। कोमल रेशमी वस्त्रों से देह पोंछी। सर्वाङ्ग में गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। जो गूँथना जानते हैं ऐसे पुरुषों ने नील कमल-सा श्याम और पुष्पगर्भ से राजा के केशपाशों को चन्द्रगर्भित मेघ की तरह सुशोभित किया। विशाल निर्मल स्वच्छ और अपनी ही तरह उत्तम गुणयुक्त दिव्य और मांगलिक दोनों वस्त्र राजा ने धारण किए। फिर राजाओं में किरीट तुल्य उन राजा ने कुमार द्वारा लाए स्वर्ण और माणिक्य खचित मुकुट को मस्तक पर धारण किया। (श्लोक २२७-२३४)

गुण रूप अलङ्कार धारण करने वाले उन राजा ने हार, भुजबन्ध, कुण्डलादि अन्य अलङ्कार भी धारण किए। मानो द्वितीय कल्पवृक्ष हों इस प्रकार याचकों को रत्न, स्वर्ण, रौप्य, वस्त्र एवं अन्य वस्तुएँ दान करने लगे। फिर कुबेर जिस प्रकार पुष्पक विमान में बैठता है उसी प्रकार नरकुंजर राजा विमलवाहन सौ पुरुषों से उठायी गयी शिविका में बैठे। मानो साक्षात् तीन रत्न (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) आकर उनकी सेवा कर रहे हैं इस प्रकार दो चंवर और एक छत्र उनकी सेवा करने लगे। जैसे दो मित्र मिले हों इस

भाँति चारण और भाटों का कोलाहल एवं वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि सबको आनन्दित करने लगी। घर में जैसे गृहपति (सूर्य-चन्द्र) शोभित होते हैं उसी प्रकार सामने-पीछे दोनों पार्श्व में चलते हुए श्रीमन्तों और सामन्तों से वे सुशोभित हो रहे थे। नतवृन्त कमल की तरह नतसिर और आज्ञाप्रार्थी द्वारपाल की भाँति राजकुमार आगे-आगे चलने लगे। जल भरे घट लिए नगर-नारियाँ, कदम-कदम पर मंगल करती हुई उन्हें देखने लगीं। विचित्र प्रकार के मंच से व्याप्त और पताका पंक्ति से शोभित एवं यक्ष कर्दम से पंकिल बने राजपथ को पवित्र करते हुए वे चलने लगे। (श्लोक २३५-२४३)

प्रत्येक मंच से गन्धर्वादि की तरह गीत गाकर वनिताएँ आरती उतार कर जो मंगल कर रही थीं वे उसे स्वीकार कर रहे थे। आनन्दित एवं चित्र-खचित से नगर के नर-नारी निश्चल नेत्रों से दूर से ही उस अभूतपूर्व दृश्य को देख रहे थे। मानो मन्त्र बल से आकृष्ट हो गए हों या इन्द्रजाल में आबद्ध इस भाँति लोग उनके पीछे-पीछे चलने लगे। पुण्य के धाम वे राजा इस प्रकार जब अरिदम आचार्य के चरणों में उस पवित्र उद्यान के निकट आए तब शिविका से नीचे उतरे और उपलब्धियों-सा मन लिए उद्यान में प्रविष्ट हुए। फिर उन्होंने पृथ्वी के भार-से अपने समस्त अलङ्कारों को शरीर से उतार दिया। कामदेव के शासन-सी मस्तक पर चिरकाल से धारण की हुई माला उतार कर फेंक दी। तदुपरान्त आचार्यश्री के बायीं ओर खड़े होकर चैत्यवन्दन कर आचार्य प्रदत्त माला अर्थात् रजोहरणादि मुनिचिह्न स्वीकार किए। 'मैं समस्त सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूं' ऐसा कहकर उन्होंने पंच मुष्ठि लोच किया। उदारहृदय वे राजा तत्काल ग्रहण किए उस व्रतलिंग में इस प्रकार शोभित हुए मानो बाल्यकाल से ही उन्होंने व्रत ग्रहण कर रखा हो। (श्लोक २४४-२५३)

तत्पश्चात् गुरु को तीन प्रदक्षिणा देकर उन्होंने वन्दना की। तब गुरु ने धर्मदेशना प्रारम्भ की—

'इस अपार संसार समुद्र में दक्षिणावर्त शंख की भाँति मनुष्य जन्म बहुत कठिनता से मिलता है। मनुष्य-जन्म प्राप्त भी हो जाए तो बोधि-बीज मिलना दुष्कर है। यदि यह भी प्राप्त हो जाए तो महाव्रतों का योग तो पुण्य योग से ही मिलता है। जब तक वर्षा ऋतु के मेघ उदित नहीं होते तभी तक धरती पर सूर्य का सन्ताप

रहता है। जब तक केशरी सिंह नहीं आता है तभी तक हाथी वन को नष्ट-भ्रष्ट करता है। जब तक सूर्य उदय नहीं होता तभी तक जगत अन्धकार में अन्ध रहता है। जब तक पक्षीराज गरुड़ आकर उपस्थित नहीं होते तभी तक जीवों को सर्पों का भय लगता है एवं जब तक कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता तभी तक जीव दरिद्र रहता है। इसी प्रकार जब तक महाव्रत प्राप्त नहीं होते तभी तक जीवों को संसार का भय लगा रहता है। आरोग्य, रूप-लावण्य, दीर्घ आयु, महान समृद्धि, स्वामीत्व, ऐश्वर्य, प्रताप, साम्राज्य, चक्रवर्तीत्व, देव ऋद्धि, सामानिक देव ऋद्धि, इन्द्र पद, अहमिन्द्र प्रताप, सिद्धत्व और तीर्थंकरत्व—ये सभी महाव्रतों के ही फल हैं। एक दिन के लिए भी यदि कोई निर्मोही होकर व्रत पालन करता है तो वह इस जन्म में यदि मोक्षगामी न भी हो तो स्वर्ग अवश्य जाता है। तब वह भाग्यवान जो तृण की तरह लक्ष्मी का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण करता है चिरकाल तक चारित्र पालन करता है उसका तो कहना ही क्या ?' (श्लोक २५४-२६३)

इस प्रकार देशना देकर अरिंदम मुनि अन्यत्र विहार कर गए। कारण, मुनि एक ही स्थान पर नहीं रहते। विमलवाहन मुनि भी ग्राम, शहर, आकर एवं द्रोणमुखादि स्थानों में गुरु के साथ छाया की भाँति विहार करने लगे। (श्लोक २६४-२६५)

पाँच समिति : (१) इर्या समिति—सूर्य किरण चारों ओर व्याप्त हो जाने पर दूसरे जीवों की रक्षा के लिए चार हाथ परिमाण भूमि पर दृष्टि रख इर्या विचक्षण अर्थात् प्रत्येक वस्तु के प्रति सावधान होकर वे ऋषि चलते थे। (२) भाषा समिति—भाषा समिति में चतुर वे मुनि निरवद्य (ताकि दूसरों को दुःख न हो), मित (मर्यादित) एवं सकल हितकारी वाणी बोलते थे। (३) एषणा समिति—एषणा निपुण वे मुनि बयालिस दोषों का परिहार कर पारने के दिन आहार और जल ग्रहण करते थे। (४) आदान निक्षेप समिति—ग्रहण और विसर्जन करने में चतुर वे मुनि आसनादि को देखकर सावधानी से उसकी प्रतिलेखना करते और उठाते एवं रखते थे। (५) परिष्ठापनिका समिति—समस्त प्राणियों पर दया भाव रखने वाले वे मुनि कफ, मल, मूत्रादि निर्णीत पृथ्वी पर ही फेंकते। (श्लोक २६६-२७०)

तीन गुप्ति : (१) मनोगुप्ति—कल्पना जाल से मुक्त और समभावों में अवस्थित वे मुनि मन को गुण रूपी वृक्ष युक्त उद्यान में आत्माराम अर्थात् अध्यात्म ध्यान में नियुक्त रखते थे। (२) वचन गुप्ति—वे प्राय: मौन ही रहते, इशारे से भी बात नहीं करते। यदि किसी कृपायोग्य पुरुष के आग्रह पर कुछ बोलते भी तो मित वाक्य ही बोलते। (३) काय गुप्ति—वे जब कायोत्सर्ग ध्यान में अवस्थित होते तब महिषादि पशु गला या देह खुजलाने के लिए उनके शरीर को स्तम्भ समझकर अपनी देह रगड़ते तब भी वे कायोत्सर्ग में अवस्थित रहते। आसन बिछाते, उठाते और विहार करने के स्थान पर भी चेष्टा रहित होकर नियम का पालन करते।

(श्लोक २७१-२७४)

इस भाँति वे महामुनि चारित्र रूपी देह उत्पन्न करते, उसकी रक्षा करते और शोधन करते, माता-सी पाँच समितियों और तीन गुप्तियों रूपी प्रवचन माता को धारण करते। (श्लोक २७५)

परिषह : (१) क्षुधा परिषह - क्षुधा पीड़ित होने पर भी, शक्तिवान होते हुए भी एषणा का लंघन न कर अदीन एवं व्याकुल हुए बिना वे विद्वान मुनि संयम यात्रा के लिए उद्यम कर विचरण करते। (२) तृष्णा परिषह—राह में चलते समय प्यास लगने पर भी वे तत्त्ववेत्ता मुनि दीन बनकर कच्चे जल की इच्छा न कर प्रासुक जल पान की ही इच्छा रखते। (३) शीत परिषह—शीत पीड़ित होने पर भी शरीर त्वचारक्षण से विरत वे महात्मा जो ग्रहणीय नहीं होता ऐसा वस्त्र ग्रहण नहीं करते। अग्नि प्रज्वलित नहीं करते। प्रज्वलित अग्नि से शरीर को तप्त नहीं करते। (४) उष्ण परिषह—उष्णकाल में धूप से तप्त होने पर भी वे मुनि न धूप की निन्दा करते, न छाया को स्मरण करते। वे पंखे का व्यवहार कभी नहीं करते। न स्नान करते न चन्दनादि विलेपन करते। (५) दंशमशक परिषह—दंश-मशकों के काटने पर उनकी भोजन लोलुपता को जानकर वे महात्मा उनपर क्रोध नहीं करते, न उन्हें उड़ाते, न उनकी उपेक्षा करते। (६) अचेलक परिषह—वे कभी यह नहीं सोचते कि वस्त्र नहीं है या यह वस्त्र खराब है। वे दोनों भाव से वस्त्र की उपेक्षा करते। वे लाभालाभ की विचित्रता को जानते थे अतः कभी भी ध्यान में विघ्न नहीं होने देते। (७) अरति परिषह—धर्म रूपी उद्यान में प्रीतिमय वे महामुनि कभी भी असन्तुष्ट नहीं

होते। वे उठते, बैठते, चलते सर्वदा सन्तुष्ट ही रहते। (८) स्त्री परिषह—जिनकी संगति रूप कर्दम कभी परिष्कृत नहीं होता और जो मोक्ष रूपी द्वार के लिए अर्गला के समान है ऐसी स्त्रियों को वे कभी मन में भी नहीं लाते। कारण उन्हें याद करना भी धर्मनाश का कारण होता है। (९) चर्या परिषह—ग्रामादि में वे नियमित रूप से कभी नहीं रहते। इससे स्थान सम्बन्ध वर्जित वे मुनि दो प्रकार के अभिग्रह सहित अकेले विचरण करते। (१०) निषद्या परिषह—स्त्री रूपी कण्टक रहित आसनादि पर उपवेशनकारी वे इष्ट और अनिष्ट उपसर्ग में निःस्पृह और निर्भय रह कर दोनों को सहन करते। (११) शय्या परिषह—इस संथारे (बिछौना) को सुबह ही छोड़ देना होगा ऐसा सोचकर वे मुनि अच्छे बुरे संथारे में सुख-दुःख न मानकर राग-द्वेष का परित्याग कर सोते थे। (१२) आक्रोश परिषह—अपनी क्षमा श्रमणता के परिज्ञाता वे क्रोधावेश में भला-बुरा कहने वाले पर भी क्रोधित नहीं होते बल्कि उसे अपना उपकारी मानते। (१३) वध बन्धन परिषह—कोई उन्हें मारता या बांधता फिर भी जीव हत्या न करने के कारण, क्रोध की दुष्टता के ज्ञाता, क्षमावान और गुणग्राही होने के कारण वे किसी पर हाथ नहीं उठाते (मारते नहीं)। (१४) याचना परिषह—दूसरों द्वारा प्रदत्त आहार पर जीवन निर्वाहकारी यतियों को यदि याचना करने पर भी कुछ नहीं मिले तो क्रोध करना उचित नहीं ऐसा समझ कर न वे याचना दुःख की परवाह करते, न गृहस्थाश्रम में लौट जाने की इच्छा करते। (१५) अलाभ परिषह—वे स्वयं के लिए या अन्य के लिए कभी अन्नादि पदार्थ पाते कभी नहीं पाते; किन्तु वे पाने पर प्रसन्न नहीं होते, नहीं मिलने पर अन्य की निन्दा नहीं करते। (१६) रोग परिषह—रोग होने पर वे व्याकुल नहीं होते, चिकित्सा करवाने की भी इच्छा नहीं रखते। शरीर को आत्मा से पृथक समझ कर अदीन भाव से रोग के दुःख को सहन करते; (१७) तृण-स्पर्श परिषह—स्वल्प और पतले वस्त्र बिछाने के कारण तृणादि से देह विद्ध होती। वे उस दुःख को सहन करते किन्तु कभी भी मोटे या नरम वस्त्र की इच्छा नहीं करते। (१८) मल परिषह—गर्मी के दिनों में धूप की ताप से शरीर मैले पसीने से भींग जाता फिर भी वे स्नान करने की इच्छा नहीं करते और न ही उबटन आदि के प्रयोग से उसे दूर करने की इच्छा करते।

(१६) सत्कार परिषह—मुनि के आगमन पर उठकर खड़ा होना, मुनि का सम्मान पूजादि करना या दान देना रूप सत्कार पाने की उनकी जरा भी इच्छा नहीं होती। सत्कार मिलने पर आनन्दित नहीं होते। न मिलने पर दुःखी नहीं होते। (२०) प्रज्ञा परिषह—वे ज्ञानी का ज्ञान और अपना अज्ञान देख कर भी दुःखी नहीं होते। (२१) अज्ञान परिषह—ज्ञान और चारित्रयुक्त होने पर भी मैं अभी तक छद्मस्थ हूं इसी भावना से उत्पन्न दुःख को भी वे यही सोच कर सहन करते कि ज्ञान की प्राप्ति धीरे-धीरे ही होती है। (२२) सम्यक्त्व परिषह—जिनेश्वर, उनके कथित शास्त्र, जीव, धर्म, अधर्म और भवान्तर ये सब परोक्ष हैं फिर भी वे सम्यक्त्व सम्पन्न मुनि उन्हें मिथ्या नहीं मानते। इस प्रकार मन, वचन और काया को वश में रखने वाले मुनि स्व में उत्पन्न या अन्य द्वारा कृत शारीरिक और मानसिक समस्त प्रकार के परिषहों को सहन करते।

(श्लोक २७६-२९८)

अर्हत भगवान् के ध्यान में सर्वदा लीन होकर मुनि ने चित्त को चैत्य की तरह स्थिर कर लिया। सिद्ध, गुरु, बहुश्रुत, स्थविर, तपस्वी, श्रुतज्ञान और संघ पर उनकी भक्ति थी। इसलिए इन सब स्थानकों की और अन्य तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जनकारी स्थानकों की जिनकी आराधना महान् आत्माओं के सिवाय अन्य के लिए दुर्लभ है, उन्होंने आराधना की और एकावली, कनकावली, रत्नावली, ज्येष्ठ व कनिष्ठ सिंहनिष्क्रीड़ित आदि उत्तम तप किए। कर्म निर्जरा के लिए उन्होंने मास क्षमण उपवास से आरम्भ करते हुए आठ-आठ मास तक उपवास किए। समताधारी महात्मा ने इस प्रकार महान् तपस्या कर अन्त में दो प्रकार की सल्लेखना और अनशन कर तत्परता सहित पंच परमेष्ठियों को स्मरण करते हुए देह का इस प्रकार परित्याग कर दिया जिस प्रकार पथिक विश्राम-स्थान का परित्याग कर देता है। (श्लोक २९९-३०५)

द्वितीय भव

वहाँ से उनका जीव विजय नामक अनुत्तर विमान में तैंतीस सागरोपम की आयु सम्पन्न देव रूप में उत्पन्न हुआ। उस विमान में देवताओं के शरीर एक हाथ परिमित और चन्द्र कौमुदी की तरह कान्ति सम्पन्न होते हैं। अहङ्काररहित सुन्दर अलङ्कार भूषित

अहमिन्द्र की तरह वे देव सर्वदा प्रतिकार रहित होकर सुख-शय्या में सोए रहते हैं। शक्ति होने पर भी वे उत्तर वैक्रिय निर्माण कर अन्य किसी स्थान में नहीं जाते। एक अवधिज्ञान के ऐश्वर्य से वे समस्त लोकनालिका का अवलोकन करते हैं। उनकी आयु के सागरोपम की जितनी संख्या होती है उतने पक्षों के पश्चात् वे एक बार श्वास लेते हैं और उतने ही हजार वर्ष बाद उनकी खाने की इच्छा होती है। इस प्रकार उस उत्तम सुखदायी विमान में उत्पन्न होने पर भी वे निर्वाण सुख की तरह उत्तम सुख का अनुभव करते। इस प्रकार रहते-रहते जब उनकी आयु का छह मास शेष रहा उस समय उन्हें अन्य देवताओं की तरह मोह नहीं हुआ। बल्कि पुण्योदय निकट होने से उनके तेज की अभिवृद्धि हो गई। अमृत-सरोवर में हंस की तरह अद्वैत सुख के विस्तार में मग्न देव ने उस तैंतीस सागरोपम की आयुष्य को एक दिन की तरह पूर्ण किया।

(श्लोक २०६-३१२)

प्रथम सर्ग समाप्त

द्वितीय सर्ग

इस जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र में मानो पृथ्वी की मुकुट हो ऐसी विनीता नामक एक नगरी थी। वहां त्रिलोकनाथ आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव के मोक्ष गमन के पश्चात् इक्ष्वाकुवंश में अनेक राजा हुए। वे अपने शुभ भाव से सिद्धपद प्राप्त करते हैं या सर्वार्थ-सिद्ध विमान में जाते हैं। उनके बाद जितशत्रु नामक एक राजा हुए। इक्ष्वाकुवंश में प्रसारित छत्र-से वे राजा विश्व के सन्ताप को हरने वाले थे। विस्तृत उज्ज्वल यश में उनके उत्साहादि गुण चन्द्र के द्वारा नक्षत्रों-सी सनाथता प्राप्त किए हुए थे। वे समुद्र-से गम्भीर, चन्द्र की तरह सुखकारी, शरणार्थियों के लिए वज्र निर्मित गृह की तरह और लक्ष्मीरूपी लता के मण्डप थे। समस्त मनुष्यों और देवों के मन में निवास करने वाले वे राजा समुद्र में चन्द्रमा की तरह एक होने पर भी अनेक लगते थे। दिक्चक्र को आच्छादित करने वाले अपने दुःसह तेज से वे मध्याह्न के सूर्य की तरह समस्त जगत् को तापित करते थे। पृथ्वी पर राज्य करने वाले उन राजा का शासन समस्त राजा, मुकुट की तरह मस्तक पर धारण करते थे। मेघ जिस प्रकार समुद्र से जल ग्रहण कर पृथ्वी को ही लौटा देता है उसी

प्रकार वे पृथ्वी से द्रव्य ग्रहण कर पृथ्वी के कल्याण के लिए पृथ्वी को ही लौटा देते। वे नित्य धर्म का विचार करते, धर्म के लिए बोलते और धर्म के लिए कार्य करते। इस प्रकार मन, वचन, काया में उनके धर्म के लिए ही बन्धन थे। उनका सुमित्रविजय नामक एक छोटा भाई था। वे पराक्रमी थे। वे ही युवराज थे।

(श्लोक १-१२)

राजा जितशत्रु की विजयादेवी नामक रानी थी। वह पृथ्वी पर आई हुई साक्षात् देवी थी। उनके दोनों हाथ, दोनों नेत्र और मुख मानो विकसित कमल के विभिन्न अंशों से रचे हुए प्रतीत होते थे। वह पृथ्वी की भूषण थीं और उनका भूषण था शील। उनकी देह पर जो आभूषणों का भार था वह तो मात्र व्यवहार के लिए ही था। वे समस्त कलाओं की ज्ञाता थीं और समस्त संसार में शोभित थीं। ऐसा लगता मानो सरस्वती या लक्ष्मी पृथ्वी पर निवास करने आई हैं। राजा सत्पुरुषों में उत्तम थे और रानी समस्त रमणियों में। अतः उनका मिलन गङ्गा और सागर की तरह उत्तम था।

(श्लोक १३-१७)

विमलवाहन राजा का जीव विजय नामक विमान से च्यव-कर रत्नखान-से विजयादेवी के गर्भ में वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन चन्द्र का योग जब रोहिणी नक्षत्र में आया तब विज्ञान (मति-श्रुत-अवधि) को धारण किए पुत्र रूप में आया। उनके गर्भवास में आते ही एक क्षण के लिए नारकी जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। उसी रात के अति पवित्र चतुर्थ प्रहर में विजयादेवी ने चौदह स्वप्न देखे :

(श्लोक १८-२१)

(१) हस्ती—प्रथम स्वप्न में मदगन्ध से आकृष्ट होकर जिस पर भ्रमर गुञ्जन कर रहा है और गर्जन में मेघ गर्जन को भी परास्त करने वाला ऐसे ऐरावत की तरह एक हस्ती देखा।

(२) वृषभ—द्वितीय स्वप्न में उच्च शृङ्ग से सुन्दर शरद ऋतु के मेघ के समान शुभ्र सुन्दर पद विशिष्ट मानो चलायमान कैलाश हो ऐसे एक वृषभ को देखा।

(३) केशरीसिंह—तीसरे स्वप्न में उन्होंने चन्द्रकला-से वक्र नख एवं कुंकुम और केशर के रंग को पराजित करने वाले केशर से प्रकाशित तरुण सिंह को देखा।

(४) लक्ष्मी देवी—चौथे स्वप्न में उन्होंने दोनों ओर से हस्तियों द्वारा पूर्ण कुम्भ से अभिषिक्त हो रहे हों ऐसी कमलासना लक्ष्मी देखी।

(५) पुष्पमाला—पंचम स्वप्न में उन्होंने प्रस्फुटित कुसुमों की सुगन्ध से दिक् समूह को सुगन्धित करने वाला आकाश स्थित मानो आकाश के ग्रैवेयक अलङ्कार हों इस प्रकार दो मालाएँ देखीं।

(६) पूर्ण चन्द्र—छठे स्वप्न में उन्होंने सम्पूर्ण मण्डल युक्त होने से असमय में पूर्णिमा का सर्जन करने वाला व किरणों से दिक् समूह को तरंगित करने वाला चन्द्रमा देखा।

(७) सूर्य—सप्तम स्वप्न में उन्होंने प्रसारित किरणों वाला तिमिरनाशकारी और रात में भी दिन का विस्तार करने वाला सूर्य देखा।

(८) ध्वजा—अष्टम स्वप्न में उन्होंने कल्पवृक्ष की मानो शाखा हो, रत्नगिरि का शिखर हो ऐसी आकाशगामिनी पताकाओं से अंकित रत्नमय ध्वजा देखी।

(९) पूर्ण कुम्भ—नवम स्वप्न में उन्होंने विकसित कमल से जिसका मुँह ढका हो ऐसा मंगल ग्रह के समान पूर्ण कुम्भ देखा।

(१०) पद्म सरोवर—दसवें स्वप्न में उन्होंने मानो लक्ष्मी देवी का आसन हो ऐसे कमल पुष्पों से सुशोभित और स्वच्छ जल की तरंगों से मनोहर पद्म सरोवर को देखा।

(११) समुद्र—ग्यारहवें स्वप्न में उन्होंने उच्छलित तरंगों और उर्मिमालाओं से मानो आकाश स्थित चन्द्र को आलिंगन करना चाह रहा हो ऐसा समुद्र देखा।

(१२) विमान—बारहवें स्वप्न में उन्होंने मानो अनुत्तर देव-लोक के विमानों में से उतर आया हो ऐसा एक रत्नमय विमान देखा।

(१३) रत्नपुंज—तेरहवें स्वप्न में उन्होंने रत्नगर्भा (पृथ्वी) ने मानो रत्नों के सर्वस्व को जन्म दिया हो ऐसे अनेक कान्तियुक्त उन्नत रत्नपुंज देखे।

(१४) निर्धूम अग्नि—चौदहवें स्वप्न में उन्होंने त्रिलोक अवस्थित समस्त तेजस्वी पदार्थों का एकत्र तेजपुंज हो ऐसी निर्धूम अग्नि देखी।

इन चौदह स्वप्नों को अपने मुख-कमल में भ्रमर की तरह प्रवेश करते हुए विजया देवी ने देखे। (श्लोक २२-३६)

उसी समय इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। अतः उन्होंने सहस्त्र नेत्रों से भी अधिक नेत्र रूपी अवधिज्ञान से देखा कि—तीर्थंकर भगवान् का गर्भ-प्रवेश हो गया है। इससे रोमांचित देह वाले इन्द्र सोचने लगे—जगत् के लिए जो आनन्द के हेतु रूप हैं, परमेश्वर हैं, विजय नामक द्वितीय अनुत्तर विमान से च्यव कर यहां जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत खण्ड के मध्य भाग में विनीता नगरी के जितशत्रु राजा की विजया देवी नामक रानी के गर्भ में अवतरित हुए हैं। इस अवसर्पिणी में करुणा रस के समुद्र समान ये द्वितीय तीर्थंकर होंगे। यह सोचकर श्रद्धा के साथ सिंहासन, पादपीठ और पादुका का परित्याग कर खड़े हो गए। फिर तीर्थंकर की दिशा की ओर सात-आठ कदम अग्रसर होकर उत्तरीय धारण कर दाहिना घुटना जमीन पर रखकर ईषत् आनमित होकर मस्तक और हाथों से भूमि स्पर्शपूर्वक जिनेश्वर भगवान् की वन्दना कर सौधर्मेन्द्र विनीता नगरी में जितशत्रु के घर आए। अन्य इन्द्र भी आसन कम्पायमान होने से अर्हत् का अवतरण ज्ञात कर भक्तिवश उसी समय वहां आए। शक्रादि इन्द्र कल्याणकारी भक्ति सम्पन्न होकर महारानी विजया देवी के शयनगृह में आए। (श्लोक ३७-५२)

उस समय वहां उस शयनगृह के आंगन में आमलकी की तरह बड़ा समवर्तुल निर्मल और अमूल्य मुक्ताओं का स्वस्तिक बनाया हुआ था। नीलमणियों की पुत्तलिकाओं से अंकित स्वर्ण स्तम्भों और मरकत मणि के पत्रों से उसके द्वार पर तोरण बनाए हुए थे। सूक्ष्म सूत्र ग्रथित पाँच रंग के अखण्ड दिव्य वस्त्र से सन्ध्या के समय मेघ से आच्छन्न आकाश की तरह चारों ओर चंदोवा बंधा हुआ था। उसके चारों ओर स्थापित यष्टि के समान सुवर्ण धूपदान से धुआँ निकल रहा था। उस कक्ष में दोनों ओर से ऊँचे, मध्य भाग में सामान्य नीचा, हंस-पंख-सा श्वेत रुई से भरा उपाधान (तकिया) शोभित, उज्ज्वल चादर बिछाई हुई सुन्दर शय्या थी। उस पर विजया देवी गंगातट पर बैठी हंसिनी-सी शोभित हो रही थी। उन्हें इन्द्र ने देखा। अपना परिचय देकर इन्द्र ने नमस्कार किया और तीर्थंकर जन्म की सूचना देने वाला स्वप्नफल कहा। फिर सौधर्मेन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि—जिस प्रकार ऋषभदेव

के राज्य के प्रारम्भ में तुमने रत्नादि से इस नगरी को पूर्ण किया था उसी प्रकार पूर्ण करो। वसन्त ऋतु जैसे नवपल्लवादि से उद्यान को नवीन कर देती है उसी भाँति नवीन गृह अट्टालिकाओं से इस नगरी को नवीन करो और मेघ जैसे जल से पृथ्वी को पूर्ण कर देता है उसी प्रकार स्वर्ण धन-धान्य और वस्त्र से इस नगरी को चारों ओर से भर दो।' (श्लोक ५३-५८)

ऐसा कहकर शक्र एवं अन्य इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप गए। वहाँ उन्होंने शाश्वत जिन प्रतिमाओं का अष्टाह्निक महोत्सव किया। तदुपरान्त वहाँ से सब अपने-अपने स्थान को लौट गए। कुबेर भी इन्द्र की आज्ञानुसार विनीता नगरी को नवीन कर अलकापुरी लौट गए। मानो मेरु पर्वत के शिखर हों ऐसी स्वर्णराशि से, मानो वैताढ्य पर्वत की चूलिका हो ऐसी रौप्य राशि से, मानो रत्नाकर का सर्वस्व हो ऐसे रत्न समूहों से, मानो जगत के हर्ष हों ऐसे सत्रह प्रकार के धान्य से, मानो कल्पवृक्ष से लाए गए हों ऐसे वस्त्र से, मानो ज्योतिष्क देवताओं के रथ हों ऐसे अति सुन्दर वाहन से, प्रत्येक घर, प्रत्येक दूकान, प्रत्येक चौक परिपूर्ण किए। इस प्रकार ऐश्वर्य से पूरित की गयी वह नगरी अलकापुरी-सी सुशोभित होने लगी। (श्लोक ५९-६४)

उसी रात सुमित्रविजय की स्त्री वैजयन्ती ने जिसका दूसरा नाम यशोमती भी था उन्हीं चौदह स्वप्नों को देखा। कुमुदिनी की भाँति हर्षयुक्त विजया और वैजयन्ती ने शेष रात्रि जागते व्यतीत की। सुबह होने पर स्वामिनी विजया ने अपने स्वप्नों की बात महाराज जितशत्रु से कही और वैजयन्ती ने सुमित्रविजय को। विजया देवी के स्वप्नों को सरल मन से विचार कर राजा जितशत्रु बोले—'महादेवी, गुणों से जिस प्रकार यश की वृद्धि होती है, विशेष ज्ञान से सम्पत्ति का लाभ होता है, सूर्य किरणों से जैसे जगत में आलोक प्रसारित होता है उसी प्रकार इस स्वप्न से यह सूचित होता है कि तुम्हें उत्तम पुत्र का लाभ होगा।' (श्लोक ६५-७०)

इस प्रकार जब राजा उत्तम स्वप्न का फल बता रहे थे तभी प्रतिहारी ने आकर सुमित्रविजय के आगमन की खबर दी। सुमित्रविजय वहाँ आकर पंचांगों से भूमि स्पर्श कर देव की तरह तरह राजा को नमस्कार कर यथायोग्य आसन ग्रहण किया। कुछ क्षण पश्चात् भक्ति सहित युक्तकर होकर कुमार बोले—

'आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में आपकी भ्रातृ-वधू वैजयन्ती ने चौदह स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखा है। वे ये हैं—(१) गर्जन में दिग्गजों को भी जय करने वाला हस्ती, (२) उच्च स्कन्ध और उज्ज्वल आकृति वृषभ, (३) उच्च केशर युक्त व्यादित-मुख केशरी, (४) दोनों ओर से दो हाथियों द्वारा अभिषिक्ता लक्ष्मी, (५) इन्द्र धनुष-सी पञ्चवर्णीय पुष्पमाला, (६) अमृत-कुण्ड-सा सम्पूर्ण मण्डलयुक्त चन्द्र, (७) समस्त विश्व को अपने प्रताप से एकत्र किया हो ऐसा प्रतापयुक्त सूर्य, (८) प्रलम्बित पताका युक्त दिव्य रत्नमय महाध्वज, (९) नवीन श्वेत कमल से जिसका मुख आच्छादित है ऐसा पूर्ण कुम्भ, (१०) मानो सहस्र चक्षु युक्त हो ऐसे विकसित कमलों से शोभित पद्म सरोवर, (११) अपनी तरंगों से मानो आकाश को प्लावित करना चाह रहा हो ऐसा समुद्र, (१२) एक दिव्य रत्नमय विचित्र विमान, (१३) मानो रत्नाचल के सार हों ऐसे प्रज्वलित कान्तियुक्त रत्नपुञ्ज, (१४)स्व-शिखा से पल्लवित कर रही हों ऐसी निर्धूम अग्नि। इन चौदह स्वप्नों को उसने देखा है। इसका फलाफल आप जानते हैं एवं उसका फल भी आप ही को मिलेगा।' (श्लोक ७१-८२)

राजा बोले—'देवी विजया ने भी इन स्वप्नों को रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुस्पष्ट देखा है। यद्यपि ये महास्वप्न साधारण रूप में भी महान् फलदायी हैं और चन्द्र किरणों की तरह आनन्द-दायक हैं फिर भी स्वप्न विशेष के फलज्ञाता पण्डितों से इन स्वप्नों का फल पूछना उचित है। कारण, चन्द्रमा की कान्ति की तरह इन विद्वानों में भी पृथ्वीमण्डल को आनन्दित करने की शक्ति है।'
(श्लोक ८३-८५)

फिर प्रतिहारियों द्वारा ज्ञात कर मूर्तिमान रहस्यज्ञाता हों ऐसे नैमित्तिकगण राजा के निकट आए। स्नान के कारण उनकी कान्ति निर्मल थी एवं उन्होंने स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहन रखे थे इसलिए वे पूर्णिमा के चन्द्र की कान्ति से आच्छादित तारों से लग रहे थे। मस्तक पर दुर्वांकुर धारण करने के कारण मानो मुकुट धारण कर रखा हो ऐसे एवं केशों में पुष्प रहने से हंस और कमल सहित नदी समूह हो ऐसे प्रतीत हो रहे थे। ललाट पर गोरोचन चूर्ण का तिलक धारण करने के कारण वे अम्लान ज्ञान रूपी दीप-शिखा से शोभित हो रहे थे। स्वल्प; किन्तु अमूल्य अलङ्कारों को

धारण करने से वे चैत्रपूर्व के सुगन्धित; किन्तु अल्प पुष्पयुक्त वृक्ष की तरह सुशोभित हो रहे थे। वे राजा के निकट आकर राजा और युवराज को भिन्न-भिन्न और एक साथ आर्य वेदोक्त मन्त्रों से आशीर्वाद दिया और राजा पर कल्याणकारी दूर्वा अक्षतादि इस प्रकार निक्षेप किए जैसे उद्यान में पवन पुष्पों को झार देती है। फिर वे प्रतिहारियों द्वारा प्रदर्शित आसनों पर इस प्रकार बैठ गए जैसे हंस कमलिनी-पत्र पर बैठता है। राजा ने अपनी रानी और भ्रातृ-वधू को यवनिका के अन्तराल में इस भांति बैठाया जैसे मेघों के पीछे चन्द्रलेखा रहती है। फिर मानो साक्षात् स्वप्न फल हों ऐसे पुष्प और फल अञ्जलि में लेकर रानी और भ्रातृ-वधू के उन स्वप्नों को नैमित्तिकों से कहा। उन लोगों ने वहीं एकान्त में विचार-विमर्श कर शास्त्रानुसार स्वप्नों का अभिप्राय इस प्रकार बताया :

'हे देव, स्वप्नशास्त्र में बहत्तर प्रकार के स्वप्नों के विषय में कहा गया है। उसमें भी ज्योतिष्क देवताओं के मध्य ग्रहों की तरह तीस स्वप्न उत्कृष्ट कहे गए हैं। उन तीस स्वप्नों में भी इन चौदह स्वप्नों को निमित्त शास्त्र में चतुर विद्वान् महास्वप्न कहते हैं। जब तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं तब उनकी माताएँ रात्रि के चतुर्थ याम में ये स्वप्न देखती हैं। इनमें सात स्वप्न वासुदेव की माँ, चार स्वप्न बलभद्र की माँ और एक स्वप्न मण्डलेश्वर की माँ देखती हैं। एक साथ दो तीर्थङ्कर दो चक्रवर्ती पुत्र नहीं होते। इसलिए एक माँ के पुत्र तीर्थङ्कर और एक माँ के पुत्र चक्रवर्ती होंगे। ऋषभदेव के समय चक्रवर्ती भरत हुए थे और अजितनाथ के समय सुमित्रविजय के पुत्र सगर राज-चक्रवर्ती होंगे। राजा जितशत्रु के पुत्र द्वितीय तीर्थङ्कर होंगे। उनका नाम अजितनाथ होगा। यह बात हमने अर्हत् आगमों से अवगत की है। इससे विजया देवी के पुत्र तीर्थङ्कर और वैजयन्ती देवी के पुत्र छह खण्ड भरत के अधिपति चक्रवर्ती होंगे।' (श्लोक ८६-१०४)

स्वप्नों के ये फल सुनकर राजा आनन्दित हुए और उन्होंने नैमित्तिकों को ग्राम, नगर, अलङ्कार और वस्त्र उपहार में दिए। (श्लोक १०५)

महापुरुष गर्भवास में भी लोगों के लिए उपकारी होते हैं। कारण, स्वप्न शास्त्र के ज्ञाताओं ने महापुरुषों के जन्म होने की बात कही।

इससे उनका दारिद्रय आजीवन के लिए समाप्त हो गया। कल्पवृक्ष की तरह वस्त्राभूषणों से सुशोभित होकर वे अपने-अपने घर लौट गए। गंगा और सिन्धु जिस प्रकार गगा में मिल जाती है उसी प्रकार विजया और वैजयन्ती भी आनन्दमना अपने-अपने प्रासाद को लौट गयीं। (श्लोक १०६-१०८)

फिर इन्द्र की आज्ञा से देव(वैमानिक) और असुर (भुवन पति देवता) पत्नियाँ विजया देवी की सेवा करने लगीं। वायु कुमार देवताओं की पत्नियाँ आकर उनके कक्ष के धूल-तृण-काष्ठादि दूर करने लगीं। मेघ कुमार देवों की पत्नियाँ दासियों की तरह उनके गृहांगन की धरती को गन्धोदक से सिंचित करने लगीं। छह ऋतुओं की अधिष्ठाता देवियाँ मानो गर्भस्थ प्रभु को अर्घ देने को प्रस्तुत हो रही हों इस प्रकार सर्वदा पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा करने लगीं। महादेवी के भावज्ञाता ज्योतिष्क देवियाँ समय के अनुकूल और सुखकर आलोक देने लगीं। वन देवियाँ दासी की तरह तोरणों की रचना करने लगीं और अन्य देवियाँ चारण भाटों की स्त्रियों की तरह विजया देवी की स्तुति करने लगीं। इस प्रकार सभी देवियाँ अपने अधिदेवता (रक्षक) को तरह विजया देवी की अधिकाधिक सेवा करने लगीं। मेघघटा जैसे सूर्य बिम्ब को और पृथ्वी जैसे निधान (धन-रत्न) को धारण करती हैं इसी प्रकार विजया देवी और वैजयन्ती देवी भी गर्भ धारण करने लगीं। जलपूर्ण बावड़ी जैसे मध्य में खिले स्वर्ण कमलों से अधिक शोभान्वित होने लगती है, उसी प्रकार स्वभावतः सुन्दर वे देवियाँ गर्भ धारण कर अधिक शोभान्वित होने लगीं। स्वर्ण कान्ति-से उनके गौरवर्ण मुख कमल छिदे हुए हस्ती-दन्तों-सी कान्ति की तरह ईषत् पिंगल वर्ण हो गए। स्वभावतः आकर्ण विस्तृत उनके नेत्र शरत्कालीन कमल की भाँति और विकसित हो गए। सद्य धोई उज्ज्वल सुवर्ण-शलाका की तरह उनका सौन्दर्य और अधिक प्रस्फुटित हो गया। सर्वदा मन्थरगति सम्पन्ना वे देवियाँ अलस राजहंसिनी की तरह और धीरे-धीरे चलने लगीं। दोनों के सुखदायक गर्भ नदी में उद्गत कमल-नाल की तरह और शुक्ति में उत्पन्न मोती की तरह अति गूढ़ भाव से बढ़ने लगे। (श्लोक १०९-१२२)

इस प्रकार नौ मास और साढ़े तीन दिन व्यतीत होने पर माघ शुक्ला अष्टमी के दिन शुभ मुहूर्त्त में जब समस्त ग्रह उच्च

स्थान में अवस्थित थे तब रोहिणी नक्षत्र में सत्य और प्रियवाणी जिस प्रकार पुण्य को जन्म देती है उसी प्रकार विजया देवी ने राज लक्षणयुक्त एक पुत्र को जन्म दिया। देवी या पुत्र को प्रसव सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं हुआ। कारण, तीर्थंकरों का यह स्वाभाविक प्रभाव है। उस समय असमय में उद्भूत मेघहीन विद्युत् की तरह एक प्रकाश क्षणमात्र के लिए तीन लोक में परिव्याप्त हो गया। शरद् ऋतु में पथिकों को जिस प्रकार मेघ छाया से सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार का सुख क्षणमात्र के लिए नारकीयों को भी प्राप्त हुआ। शरत्कालीन वारि की तरह समस्त दिशाओं में प्रसन्नता व्याप्त हो गयी और प्रभातकालीन कमल की तरह समस्त लोकों का मन विकसित हो उठा। पृथ्वी पर प्रसारित दक्षिण पवन जिस भाँति भूतल से उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनुकूल और मन्द-मन्द पवन प्रवाहित होने लगा। चारों ओर शुभ-सूचक शकुन होने लगे। कारण महात्माओं के जन्म से सब कुछ अच्छा ही होता है।

(श्लोक १२३-१३०)

उसी समय प्रभु के निकट जाने की इच्छा से मानो उत्सुक हो गई हों ऐसी दिक् कुमारियों का आसन कम्पित हुआ। सुन्दर मुकुट-मणियों की कान्ति के बहाने मानों कुसुम्भी वस्त्र के आवरण का परिधान पहन रखा हो ऐसे मुकुटों से वे शोभित थीं। स्व-प्रभाव से जैसे परिपूर्ण रूप में पूर्ण हो गए हैं ऐसे मुक्ता कुण्डल वे पहने थीं। कुण्डलाकार होने से इन्द्र धनुष की शोभा का अनुसरण करने वाली और विचित्र मणि रचित कण्ठाभरण उन्होंने धारण कर रखा था। रत्नगिरि के शिखर से गिरती निर्झरिणी की शोभा को हरने वाले स्तनस्थित मुक्ताहारों से वे मनोहर लग रही थीं। कामदेव द्वारा न्यस्त मानों सुन्दर तूणीर हों ऐसे माणिक्य कंकणों से उनकी भुजवल्लियाँ सुशोभित थीं। जगत को जीतने की इच्छा रखने वाले कामदेव के लिए मानो धनुष प्रस्तुत किया हो ऐसी अमूल्य रत्नों की कटि-मेखला उन्होंने धारण कर रखी थी। उनकी देह द्युति से पराजित समस्त देवताओं की द्युति मानो उनके चरण कमलों में आकर गिर गई हों ऐसे रत्ननुपूरों से वे शोभित हो रही थीं। उनकी देह-कान्ति किसी प्रियंगु की तरह श्याम थी। कोई तरुण सूर्य की भाँति अपनी कान्ति प्रसारित कर रही थी। कोई चन्द्रिका-सी स्व-कान्ति से निज आत्मा को स्नान करा रही थी। कोई

निज कान्ति से दिक् समूह को कनक सूत्रदान कर रही थी एवं कोई वैदूर्यमणि की पुत्तलिका की तरह कान्तिमान लग रही थी।

(श्लोक १३१-१४१)

गोलाकार स्तनों से युगल चक्रवाक सह मानो नदी, लीलायुक्त गमन से मानो राजहंसिनी, कोमल करतल से मानो पत्र सहित लता, सुन्दर नेत्रों से मानो विकसित पद्मयुक्ता पद्मिनी, सुन्दरता की पूर्णता से मानो जल सहित वापिका और लावण्य से कामदेव की अधिदेवता हों इस प्रकार वे सुशोभित हो रही थीं। ऐसी रूप सम्पन्ना वे ५६ दिक् कुमारियाँ अपने-अपने आसनों को कम्पित होते देख अवधिज्ञान से उसी मुहूर्त में विजया देवी की कुक्षि से तीर्थंकर का पवित्र जन्म हुआ है ज्ञात किया। वे जान गई इस जम्बूद्वीप के दक्षिण उत्तरार्द्ध के मध्यभाग में विनीता नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा राज्य करते हैं। उनका नाम है जितशत्रु। उनकी धर्मपत्नी का नाम है विजया देवी। उन्हीं के गर्भ से इस अवसर्पिणी के तीन ज्ञान के धारक द्वितीय तीर्थंकर भगवान ने जन्म लिया है यह जानकर आसन से उठकर आठ-दस कदम तीर्थंकर के अभिमुख जाकर मानो मन को अग्रवर्ती कर रही हो इस प्रकार प्रभु को नमस्कार कर सभी ने शक्रस्तव से भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना की। तदुपरान्त सभी अपने-अपने सिंहासन पर बैठकर अपने-अपने अभियोगिक देवों को इस प्रकार आज्ञा दी : (श्लोक १४२-१५२)

हे देवगण, दक्षिण भरतार्द्ध में द्वितीय तीर्थंकर का जन्म हुआ है। सूतिका कर्म करने के लिए आज हमें वहाँ जाना होगा। अतः खूब बड़ा और विस्तृत एवं विविध रत्नों का विमान हम लोगों के लिए बनाओ। आज्ञा पाकर महान् शक्तिशाली देवगण ने उसी समय विमान तैयार कर उन्हें ज्ञात करवाया। वे विमान हजार-हजार स्वर्णकुम्भों से उन्नत थे। पताकाओं से मानो वैमानिक देवताओं के वे पल्लव हों इस प्रकार लग रहे थे। ताण्डव श्रम से क्लान्त नर्तकियों का मानो समूह हो इस प्रकार पुत्तलिका युक्त मणि स्तम्भ से वे सुन्दर लग रहे थे। घण्टाध्वनि के आडम्बर से वे हस्तियों का अनुसरण कर रहे थे। शब्दायमान घुंघरुओं के समूह से वे वाचाल हो गए हों ऐसे लग रहे थे। मानो लक्ष्मी का आसन हो ऐसी वज्रवेदिका से वे सुशोभित थे एवं उनसे प्रसारित सहस्र किरण मालाओं से मानो सूर्य का प्रतिबिम्ब हों वे ऐसे लग रहे थे।

उनकी चारों ओर की दीवालों पर और स्तम्भों पर रत्नमय ईहामृग, वृषभ, अश्व, पुरुष, रुरुमृग, मकर, हंस, शरभ, चामर, हस्ती, किन्नर, वनलता और पद्मलता के समूह अंकित थे।

(श्लोक १५३-१६१)

पहले अधोलोक की निवासिनी देवदुष्य वस्त्रधारिणी जिनके केशपाश पुष्प द्वारा अलंकृत थे ऐसी भोगकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिन्दिता ये आठ दिक्कुमारियां विमान पर चढ़ीं। इन प्रत्येक के साथ चार-चार हजार सामानिक देवियां, चार महत्तरा देवियां, सात महा सैन्यदल, सात सेनापति, सोलह हजार आत्मरक्षक देवियां, अनेक व्यन्तरदेव और अनेक ऋद्धिसम्पन्ना देवियां थीं। वे सभी मनोहर गीत और नृत्य कर रही थीं। उनका विमान ईशान दिशा की ओर चला। तब उन्होंने वैक्रिय समुद्घात कर असंख्य योजन का एक दण्ड निर्माण किया। वैदूर्यरत्न, वज्ररत्न, लोहित, अंक, अञ्जन, अञ्जनपूलक, पूलक, ज्योतिरस, सौगन्धिक, अरिष्ट, स्फटिक, जातरूप और हंसगर्भ आदि अनेक प्रकार के उत्तम रत्नों और प्रसारगुल्म आदि मणियों के स्थूल पुद्गल दूर कर उनसे सूक्ष्म पुद्गल ग्रहण किया फिर उनसे उत्तर वैक्रिय रूप का निर्माण किया। कहा भी गया है कि देवताओं को जन्म होते ही वैक्रिय लब्धि सिद्ध हो जाती है। तदुपरान्त उत्कृष्ट, त्वरित, चल, प्रचण्ड, सिंह, उद्धत, यतना, छेक और दिव्य इन देवगति से समस्त ऋद्धि और समस्त बल सहित वे अयोध्या के जितशत्रु राजा के प्रासाद में आ पहुँचीं। ज्योतिष्कदेव अपने वृहद् विमान से जिस प्रकार मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हैं उसी प्रकार उन्होंने तीर्थङ्कर के सूतिकागृह की तीन प्रदक्षिणा दीं। विमान को धरती से चार अंगुल ऊँचा, ताकि जमीन स्पर्श न करे, ईशान कोण में स्थापित कर दिया। फिर विमान से उतरकर वे सूतिकागृह में जाकर जिनेन्द्र और जिन माता की प्रदक्षिणा देकर हाथ जोड़कर इस प्रकार बोलने लगीं—समस्त स्त्रियों ने श्रेष्ठ उदर में रत्न धारण करने वाली और जगत् में दीपक तुल्य पुत्र-प्रसविनी हे जगन्माता, हम आपको नमस्कार करती हैं। आप जगत् में धन्य हैं, पवित्र हैं, उत्तम हैं। इस मनुष्यलोक में आपका जीवन सफल है। कारण, पुरुषों में रत्नरूप, दया के समुद्र, त्रिलोक वन्दनीय त्रिलोक के स्वामी धर्म चक्रवर्ती जगद्गुरु, जगबन्धु,

विश्व पर कृपा करने वाले और इस अवसर्पिणी में जन्मे तीर्थङ्कर की आप जननी हैं। हे माता, हम अधोलोक निवासिनी दिक्-कुमारियां तीर्थङ्कर का जन्मोत्सव करने के लिए यहां आई हैं। आप हमसे भयभीत मत होइएगा। (श्लोक १६१-१८३)

ऐसा कहकर प्रणाम करते हुए वे ईशान कोण की तरफ गईं और वैक्रिय समुद्घात से अपनी शक्तिरूपी सम्पत्ति से क्षणमात्र में संवर्तक वायु उत्पन्न की। सभी ऋतुओं के पुष्प के सर्वस्व सुगन्ध वहनकारी, सुखकारी, मृदु, शीतल और तिर्यक प्रवाहित उस पवन ने सूतिकागृह की चारों दिशाओं में एक योजन भूमि पर्यन्त तृणादि दूर कर भूमितल को परिष्कृत किया। तदुपरान्त वे कुमारियां भगवान् और उनकी माता के समीप खड़े होकर गीत गाने लगीं।

(श्लोक १८३-१८७)

फिर उर्द्धरुचक में स्थिति सम्पन्ना नन्दनवन के कूट में रहने वाली दिव्य अलङ्कार पहने हुए मेघङ्करा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा और बलाहका नामक आठ दिक्कुमारियां पहले की तरह महत्तरा, सामानिक अंगरक्षिका, सैन्य और सेनापतिगण सहित वहां आईं। उन्होंने स्वामी के लिए उस प्रसिद्ध सूतिकागृह में जाकर जिनेन्द्र और जिनमाता को तीन बार प्रदक्षिणा देकर पूर्व देवियों की तरह माता को अपना परिचय दिया और उन्हें प्रणाम कर उनकी स्तुति की और आकाश में मेघों का सर्जन किया। उन मेघों ने भगवान् के जन्म स्थान के चारों ओर एक योजन पर्यन्त न कम न अधिक, गन्धोदक की वृष्टि की। तपस्या से जैसे पाप शान्त होते हैं, पूर्णिमा की चन्द्रिका से जैसे अन्धकार दूर होता है उसी प्रकार उसी समय उस वृष्टि से धूल शान्त हो गई अर्थात् धूल उड़ना बन्द हो गया। फिर उन्होंने रंगभूमि में रंगाचार्य की तरह तत्काल विकसित और विचित्र पुष्पों को वहां फैला दिया। इस प्रकार कर्पूर और अगुरु धूप से मानो लक्ष्मी का निवास हो उसी भांति उस भूमि को उन्होंने सुगन्धित कर दिया। फिर वे तीर्थङ्कर और उसकी माता से सामान्य दूरी पर खड़ी होकर भगवान् का निर्मल गुणगान करने लगीं। (श्लोक १८८-१९८)

तत्पश्चात् नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, आनन्दवर्द्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामक पूर्व रुचकाद्रि में निवास करने वाली आठ दिक्कुमारियां निज समस्त ऋद्धि और पूर्ण बलसह

वहां आयीं। पूर्व की भांति वे परिवार सहित सूतिकागृह गयीं एवं भगवान् और उनकी माता को प्रणाम कर तीन प्रदक्षिणा और निज परिचय देकर पूर्ववत् नमस्कार-स्तुति कर हाथ में रत्नों का दर्पण लिए पूर्व दिशा की ओर खड़ी हो गयीं और गीत गाने लगीं।

(श्लोक १९९-२०१)

दक्षिण रुचकाद्रि पर रहने वाली अलंकार, दिव्य वस्त्र और मालाधारिणी समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा नाम्नी आठ दिक्कुमारियां पूर्वानुरूप परिवार सहित प्रभु के मन्दिर में आयीं और स्वामिनी को प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर उन्हें अपना परिचय दिया। फिर भगवान् और उनकी माता के दाहिनी ओर हाथ में कलश लेकर खड़ी हो गयीं और मधुर शब्दों में मंगल गीत गाने लगीं।

(श्लोक २०२-२०५)

पश्चिम रुचकाद्रि निवासकारिणी आठ दिक्कुमारियां पूर्वानुरूप परिवार सहित वहां आयीं। उनके नाम इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा और सीता थे। ये भी पूर्व देवियों की तरह अपना परिचय व प्रदक्षिणा देकर जिन और जिनमाता के पश्चिम ओर हाथ में सुन्दर पंखे लेकर खड़ी हो गयीं और गीत गाने लगीं। (श्लोक २०६-२०८)

उत्तर रुचकाद्रि पर रहने वाली अलंबुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरिका, वारुणी, हासा, सर्वप्रभावा, श्री और ह्री नामक आठ दिक्कुमारियां पूर्व दिक्कुमारियों की तरह परिवार सहित वहां आयीं और अपना परिचय देकर प्रदक्षिणापूर्वक भगवान् और उनकी माता को नमस्कार कर हाथ में सुन्दर चँवर लेकर उत्तर दिशा की ओर खड़ी हो गयीं और गीत गाने लगीं। (श्लोक २०९-२११)

विदिक रुचकाद्रि पर रहने वाली चित्रा, चित्रकनका, सुतेरा और सौत्रामणी नामक चार दिक्कुमारियां वहां आयीं और प्रदक्षिणा पूर्वक जिनेश्वर और उनकी माता को नमस्कार कर अपना-अपना परिचय देकर दोनों का विपुल गुणगान करती हुई हाथ में प्रदीप लेकर ईशान कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। (श्लोक २१२-२१४)

रुचक द्वीप के मध्य भाग में रहने वाली रूपी, रूपांशिका, सुरूपा और रूपकावती नामक चार दिक्कुमारियां भी पूर्व की भांति ही सपरिवार वृहद् विमान में बैठकर अर्हत् के जन्म नगर में आयीं। पहले

उन्होंने भी विमान सहित प्रदक्षिणा दी और विमान को यथायोग्य स्थान पर रख दिया। फिर पैदल चलकर जन्मगृह के निकट आयीं एवं भगवान् और भगवान् की माता को प्रदक्षिणा देकर एवं प्रणाम कर कहने लगीं– विश्व को आनन्द प्रदान करने वाली हे जगन्माता, आपकी जय हो। आप चिरंजीवी होएँ। आपके दर्शन से आज हमारा उत्तम मुहूर्त्त उपस्थित हुआ है। रत्नाकर, रत्नशैल और रत्नगर्भा इन सब नामों को धारण करने वाले निरर्थक हैं। रत्नभूमि तो एक मात्र आप ही हैं। क्योंकि आपने ही तो रत्न से भी श्रेष्ठ इस पुत्र रत्न को जन्म दिया है। हम रुचक द्वीप के मध्य भाग में रहने वाली दिक्कुमारियाँ अर्हत् जन्म के कृत्यों को करने के लिए यहां आयी हैं। अतः आप हमें देखकर जरा भी भयभीत न होवें। (श्लोक २१५-२२२)

ऐसा कहकर उन्होंने प्रभु की नाभिनालिका चार अंगुल रखकर बाकी काट दी। फिर उस काटी हुई नालिका को जमीन में गड्ढा खोदकर निधि की तरह रख दी एवं रत्नों और हीरों से गड्ढे को भर दिया। तत्काल उत्पन्न दूर्वादल से उस गड्ढे पर पीठिका निर्मित की। देवताओं के प्रभाव से वहाँ तत्काल उद्यान की रचना हो गयी। तदुपरान्त उन्होंने सूतिकागृह के तीन ओर क्षणमात्र में लक्ष्मी के गृहरूप से तीन कदलीगृह का निर्माण किया। उनमें प्रत्येक के मध्य भाग में चतुःशाल बनायी गयी। जिसपर एक-एक बड़े रत्न सिंहासन रखे गए। फिर वही दिक्कुमारियाँ प्रभु को हाथों में एवं प्रभुमाता को बाहुओं पर लेकर दक्षिणी कदलीगृह में आयीं। वहाँ चतुःशाल पर रक्षित रत्नसिंहासन पर स्वामी और उनकी माता को सुखपूर्वक बैठाया और स्वयं शतपाकादि तेल द्वारा दोनों की धीरे-धीरे मालिश की। सुगन्धित द्रव्य और मिट्टी उबटन से क्षणमात्र में रत्न दर्पण की तरह उन दोनों की देह को मैल रहित कर दिया। फिर वे उन्हें पूर्व की भाँति पूर्व दिशा के कदली गृह में ले गयीं। वहाँ चतुःशाल पर अवस्थित रत्न सिंहासन पर प्रभु और उनकी माता को सुखपूर्वक बैठाकर गन्धोदक पुष्पोदक और शुद्धोदक से मानो जन्म से ही वे इन कामों को करती आ रही हों इस प्रकार उन्हें स्नान करवाया। बहुत दिनों पश्चात् उनकी शक्ति का यथायोग्य व्यवहार हुआ। इससे वे स्वयं को कृतार्थ करती हुई उन्हें रत्नों के विचित्र अलंकार पहनाए।

फिर पूर्व की भांति उन्हें लिए उत्तर दिशा के कदलीगृह के आयीं। वहां भी उन लोगों ने उन्हें चतुःशाल के सिंहासन पर बैठाया। उस समय वे दोनों पर्वत शिखर पर अवस्थित सिंहनी और उसके शावक-सी शोभित हो रही थीं। वहां दिक्कुमारियों ने आभियोगिक देवों द्वारा क्षणमात्र में क्षुद्र हिमालय से गोशीर्ष चन्दन की लकड़ियां मँगवायीं। फिर अरणिकाष्ठ को घिसकर अग्नि उत्पन्न की। चन्दन के काष्ठ को घिसने से भी अग्नि उत्पन्न होती है। चारों ओर से गोशीर्ष चन्दन के समिध से उन देवियों ने अग्निहोत्र की तरह उस अग्नि को प्रज्वलित किया। उस अग्नि में होमकर भूतिकर्म (जन्म संस्कार) किया। भक्ति से उन्नत उन देवियों ने जिनेन्द्र के रक्षा बन्धन बांधा और उनके कानों में 'तुम पर्वत की तरह आयु सम्पन्न होओ' कहकर परस्पर रत्न पाषाण के दो गोलक टकराए। फिर प्रभु को हाथों एवं उनकी मां को बाहुओं द्वारा उठाकर सूतिकागृह ले गयीं और वहां उनकी शय्या पर सुला दिया। फिर कुछ दूर खड़ी होकर प्रभु और उनकी माता का उज्ज्वल गुणगान सुस्वर से करने लगीं। (श्लोक २२२-२४३)

सौधर्म देवलोक में शक्रेन्द्र स्व सिंहासन पर बैठे थे। वे बड़े वैभवशाली थे। एक कोटि देवता एवं एक कोटि अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही थीं। एक कोटि चारण उनकी स्तुति कर रहे थे। गन्धर्वगण विभिन्न प्रकार से उनका गुणगान कर रहे थे। बारांगनाएँ उनके दोनों तरफ खड़ी होकर उन पर चंवर बीज रही थीं। मस्तक स्थित श्वेत छत्र से वे सुशोभित हो रहे थे। सुधर्मा सभा में उनका जो सुखकारी सिंहासन था वह उस समय कम्पित हुआ। सिंहासन के कम्पित होते ही वे क्रोध से प्रज्वलित हो उठे। उनके होठ काँपने लगे। ऐसा लगा मानो उनका सारा शरीर अग्नि की भांति ज्वालामय हो गया है। अपनी चढ़ी हुई भृकुटि के कारण वे धूमकेतु युक्त आकाश की तरह भयंकर लगने लगे। मदमस्त हस्ती की तरह उनका मुख ताम्रवर्णीय हो गया एव उछलती हुई तरंगों की तरह उनके ललाट पर त्रिवली हो गयी। इसी स्थिति में उन्होंने अपने शत्रुनाशक वज्र की ओर देखा। (श्लोक २४४-२५०)

उन्हें इस प्रकार कुपित देखकर नैगमेषी नामक सेनापति उठ कर खड़े हो गए और हाथ जोड़कर कहने लगे—हे स्वामी, आपके आज्ञावाहक मेरे रहते आपका आवेश किस पर है ? सुर-असुर और

मनुष्यों में न कोई आपसे बड़ा है न आपके समान है। अतः आपके आसन कम्पित होने का कारण विचार कर आप अपने इस दण्ड-दानकारी सेवक को आदेश दें। (श्लोक २५१-२५३)

सेनापति की बात सुनकर इन्द्र ने उसी क्षण अवधिज्ञान से उसी प्रकार यह अवगत किया कि द्वितीय तीर्थङ्कर का जन्म हुआ है जिस प्रकार प्रवचन से धर्म और प्रदीप से अन्धकार में भी वस्तु अवगत की जाती है। वे सोचने लगे—जम्बूद्वीप के भरत वर्ष में विनीता नामक नगरी में जितशत्रु नामक राजा की विजया देवी के गर्भ से इस अवसर्पिणी के द्वितीय तीर्थङ्कर उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए मेरा आसन कम्पित हुआ है। मुझे धिक्कार है कि मैंने अन्य बात सोची। मैंने ऐश्वर्य मत्त होकर जो दुष्कृत्य किया है वह मिथ्या हो।
(श्लोक २५४-२५८)

ऐसा विचार कर वे अपना सिंहासन पाद पीठ और पादुका का परित्याग कर खड़े हो गए। फिर तीर्थंकर जिस दिशा की ओर हैं उस दिशा की ओर प्रस्थान कर रहे हैं, इस प्रकार कुछ कदम बढ़े और धरती पर दाहिना गोड़ा रखकर बाएँ गोड़े को कुछ झुका कर हाथ और मस्तक से भूमि स्पर्श कर स्वामी को नमस्कार किया। वे शक्रस्तव से वन्दना कर तट से हटे हुए समुद्र की तरह लौटकर अपने सिंहासन पर बैठ गए। फिर गृहस्थ जिस प्रकार स्वजन को कहते हैं उसी प्रकार तीर्थंकर जन्म की कथा समस्त देवताओं को कहने को और उत्सव में सम्मिलित होने को मानो मूर्तिमान हर्ष हों इस भांति रोमांचित देह से इन्द्र ने नैगमेषी सेनापति को आदेश दिया। उन्होंने इन्द्र की आज्ञा को इस प्रकार शिरोधार्य कर लिया जिस प्रकार पिपासित व्यक्ति जल को ग्रहण करता है। वहाँ से जाकर उन्होंने सुधर्मा सभा रूप गाय के गले का एक योजन मण्डल युक्त सुघोषा नामक घण्टे को तीन बार बजाया। उस घण्टे के बजने पर मन्थनकालीन समुद्र से उठी ध्वनि के जैसे शब्द से समस्त विश्व के कानों में अतिथि की तरह महानन्द उत्पन्न किया। इससे गाय के रम्भाने पर बछड़ा भी जैसे रम्भाने लगता है उसी प्रकार एक कम बत्तीस लक्ष घण्टे उसी क्षण बज उठे। उन घण्टों के महानाद से समस्त सौधर्म कल्प शब्दाद्वैतमय हो गया। बत्तीस लक्ष विमानों के नित्य प्रमादी देवता भी उस शब्द को सुनकर गुफा में निद्रित सिंह की

तरह जाग्रत हो उठे। इन्द्र की आज्ञा से किसी देव ने घोषणा रूप नाटक का नान्दी रूप सुघोषा घण्टा बजाया है इसलिए इन्द्र की आज्ञा सूचक घोषणा अवश्य सुनना उचित है ऐसा सोचकर सभी देव मन लगाकर सुनने में तत्पर हो गए। घण्टे की आवाज बन्द होने पर इन्द्र के सेनापति मेघमन्द्र स्वर से इस प्रकार बोलने लगे—हे सौधर्म स्वर्गवासी देवगण, मन लगाकर सुनो, स्वर्गपति इन्द्र आपको यह आदेश दे रहे हैं कि जम्बूद्वीप स्थित भरत खण्ड के अयोध्या नगर में जितशत्रु राजा की रानी विजया रानी के गर्भ में जगद्गुरु और विश्व पर कृपा करने वाले द्वितीय तीर्थङ्कर का विश्व के भाग्योदय से आज जन्म हुआ। निज आत्मा को पवित्र करने के लिए जन्माभिषेक हेतु परिवार सहित वहाँ जाना उचित है। अतः आप सब स्वऋद्धि और बल सहित उनके साथ जाने के लिए यहाँ एकत्र हो जाएँ। मेघ गर्जन से जैसे मयूर आनन्दित होता है उसी प्रकार घोषणा सुनकर सभी देव आनन्दित हो गए। उसी समय मानो स्वर्गीय प्रवहन हो ऐसे विमान में बैठकर आकाश समुद्र अतिक्रम करते हुए देवगण एक-एक कर इन्द्र के सम्मुख आकर उपस्थित हो गए। (श्लोक २५९-२८०)

इन्द्र ने अपने पालक नामक अभियोगिक देव को स्वामी के निकट जाने के लिए विमान प्रस्तुत करो ऐसा आदेश दिया। तब उसने एक लक्ष योजन दीर्घ और प्रशस्त मानो द्वितीय जम्बूद्वीप हो ऐसा पाँच सौ योजन ऊँचा एक विमान प्रस्तुत किया। उसके भीतर की रत्नमय दीवारों से मानो वह तरंगित प्रवाल समुद्र है, स्वर्ण कलश से मानो विकसित कमल समुद्र है, दीर्घ ध्वज वस्त्रों से मानो देह पर तिलक अंकित किया है विचित्र रत्न शिखरों से मानो उसने अनेक मुकुट धारण किए हैं, अनेक रत्न स्तम्भों से वह मानो लक्ष्मी ही हस्तिनियों के आलान स्तम्भ युक्त है और रमणीय पुतलियों से मानो वह द्वितीय अप्सराओं से युक्त है ऐसा लग रहा था। वह विमान ताल ग्रहण करने वाले नट की तरह किंकिणी जाल से मण्डित था, नक्षत्र सहित आकाश की तरह मुक्ता के स्वस्तिक से अंकित था और ईहामृग, अश्व, लता, मनुष्य, किन्नर, हस्ती, हंस, वनलता और पद्मलता के चित्रों से सज्जित था। महागिरि से उतरते समय विस्तृत हुई निर्झरिणी की तरंगों की तरह विमान के तीन ओर सोपान श्रेणियाँ थीं। सोपान

श्रेणियों पर इन्द्र की अखण्ड धनुष श्रेणियों के मानो सहोदर हों ऐसी तोरण श्रेणियाँ थीं। उसके नीचे का भाग परस्पर संयुक्त कमल-मुख और उत्तम दीपक श्रेणी की तरह समान तल सम्पन्न और कोमल था। सुस्पर्शयुक्त और कोमल कान्तियुक्त पंचवर्णीय चित्रों से विचित्र होने से वह भूमि भाग मानो मयूर पंखों से आच्छादित हो इस प्रकार शोभित हो रहा था। उसके मध्य भाग में मानो लक्ष्मी का क्रीड़ागृह हो, नगरी का राजगृह हो, ऐसा प्रेक्षागृह मण्डप था। उसके मध्य लम्बाई और चौड़ाई में आठ योजन प्रमाण युक्त और ऊँचाई में चार योजन प्रमाण युक्त एक एक मणि पीठिका थी। उस पर अंगूठियों में खचित वृहद माणिक्य की तरह एक उत्तम सिंहासन था। उस सिंहासन पर स्थिर शरद् ऋतु की चन्द्रिका के प्रसार का भ्रम उत्पन्नकारी चाँदी की तरह उज्ज्वल एक चँदोवा था। चँदोवे के बीच में एक वज्रमय अंकुश लटक रहा था। उसके समीप मुक्ताकलश के हार लटक रहे थे। उसके चारों कोनों में मानो उसकी छोटी बहनें हों ऐसे अर्द्ध आकार वाले मुक्ता कलश के चार हार लटक रहे थे। मृदु पवन में वे हार ईषत् आन्दोलित हो रहे थे मानो इन्द्र लक्ष्मी के क्रीड़ा हिंडोलों की शोभा को वे हरण कर रहे थे। (श्लोक २८१-२९८)

इन्द्र के मुख्य सिंहासन के ईशान कोण में, उत्तर दिशा में और वायव्य कोण में चौरासी हजार सामानिक देवताओं के चौरासी हजार रत्नमय भद्रासन थे। पूर्व दिशा में इन्द्र की इन्द्राणियों के आठ आसन थे। वे इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लक्ष्मी के क्रीड़ा करने की माणिक्य वेदिकाएँ हों। अग्नि कोण में अभ्यन्तर पर्षदा के चौदह हजार देवताओं के आसन थे। नैऋत्य कोण में बाह्य पर्षदा के सोलह हजार देवताओं के आसन थे। इन्द्र के सिंहासन के पश्चिम में सात सेनापतियों के सात आसन कुछ ऊँचे स्थान पर रखे हुए थे और समीप ही चारों दिशाओं में चौरासी-चौरासी हजार आत्मरक्षक देवताओं के आसन थे।

(श्लोक २९९-३०६)

इस प्रकार का विमान इन्द्र की आज्ञा से तुरन्त तैयार किया गया। मन द्वारा ही देवताओं का इष्ट सिद्ध होता है अर्थात् इच्छा करने मात्र से ही वह पूर्ण हो जाता है। प्रभु के निकट जाने को उत्सुक इन्द्र ने उसी क्षण अलङ्कार परिधानकारी उत्तर वैक्रिय रूप

धारण किया। फिर सौन्दर्य रूपी अमृत की लता के समान अपनी आठों इन्द्राणियां और खूब बड़ी नाट्य-सेना एवं गन्धर्व सेना सहित आनन्दित चित्त से विमान को प्रदक्षिणा देकर पूर्व द्वार से रत्नमय सीढ़ियों से होकर विमान में चढ़े और मध्य के रत्न सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुखकर सिंह जैसे पर्वत शिखर की शिला पर बैठता है उसी प्रकार बैठ गए। कमलिनी पत्रों पर जैसे हंस बैठते हैं उसी प्रकार अनुक्रम से इन्द्राणियां अपने-अपने आसन पर बैठ गयीं।
(श्लोक ३०७-३१२)

चौरासी हजार सामानिक देवता उत्तर दिशा की सीढ़ियों से होकर विमान पर चढ़े और अपने-अपने भद्रासन पर बैठ गए। वे रूप में इन्द्र के प्रतिबिम्ब से लग रहे थे। अन्य देव-देवियां दक्षिण दिशा की सीढ़ियाँ चढ़कर स्व-स्व योग्य स्थान पर उपवेशित हो गए। सिंहासन पर बैठे इन्द्र के आगे जैसे एक-एक इन्द्राणी मंगल कर रही हों ऐसे आठ मांगलिक चले। फिर छत्र, झारी और पूर्ण कुम्भादि चले। कारण, ये स्वर्ग राज्य के चिह्न हैं और छाया की तरह साथ रहने वाले हैं। उनके आगे एक हजार योजन ऊँचा महाध्वज चला। हजारों छोटी-छोटी पताकाओं से वह पत्रयुक्त वृक्ष जिस प्रकार शोभा पाता है उसी प्रकार शोभा पा रहा था। उसके आगे इन्द्र के पांच सेनापति और अपने कार्य में अप्रमादी आभियोगिक देवगण चले। (श्लोक ३१३-३१९)

इस भांति असंख्य ऋद्धिसम्पन्न देवता जिनकी सेवा में नियुक्त हैं, चारणगण जिनकी ऋद्धि की स्तुति कर रहे हैं, जिनके सम्मुख नाट्य सेना एवं गन्धर्व सेना नाट्य, गीत और नृत्य कर रहे हैं, पांच सेना वाहिनियां जिनके आगे महाध्वज चला रहे हैं और जो वादित वाद्यों से ब्रह्माण्ड को गुञ्जित कर रहे हैं ऐसे इन्द्र सौधर्म देवलोक की उत्तर दिशा से तिर्यक पथ से पालक विमान से पृथ्वी पर जाने की इच्छा से रवाना हुए। कोटि देवताओं से परिपूर्ण वह पालक विमान मानो चलमान सौधर्म कल्प हो इस भांति शोभित हो रहा था। उसकी गति मन की गति से भी द्रुत थी। वह विमान असंख्य द्वीप, समुद्र अतिक्रम कर सौधर्म कल्प से देवताओं के लिए क्रीड़ा करने के स्थान नन्दीश्वर द्वीप जा पहुँचा। वहां इन्द्र ने अग्निकोण में स्थित रतिकर पर्वत पर जाकर विमान को छोटा किया। फिर वहां से यात्रा कर विमान को अनुक्रम से छोटा करते-करते जम्बू-

द्वीप में भरतखण्ड की विनीता नगरी में आए और विमान सहित स्वामी की परिक्रमा दे रहे हों इस भाव से परिक्रमा दी। कारण, प्रभु जैसे स्वामी जहां रहते हैं वहां की भूमि भी वन्दनीय हो जाती है। फिर सामन्त जिस प्रकार राज प्रासाद में प्रवेश करते समय निज वाहन को एक ओर खड़ा कर देते हैं उसी भांति विमान को ईशान कोण में स्थिर किया और कुलीन दास की तरह निज देह को संकुचित कर भक्ति सहित सूतिकागृह में प्रवेश किया।

(श्लोक ३२०-३३१)

स्वनेत्रों को धन्य मानकर इन्द्र ने तीर्थङ्कर और माता को देखने मात्र से प्रणाम किया। फिर दोनों को तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार वन्दना कर करबद्ध होकर इस प्रकार बोले—निज उदर में रत्न धारण करने वाली, विश्व को पवित्र करने वाली एवं जगद्दीपक पुत्र की जन्मदात्री, हे जगन्माता! मैं आपको प्रणाम करता हूं। मां, आप ही धन्य हैं क्योंकि आपने कल्पवृक्ष उत्पन्न करने वाली पृथ्वी की तरह द्वितीय तीर्थङ्कर को जन्म दिया है। मां, मैं सौधर्म देवलोक का अधिपति हूं। प्रभु का जन्मोत्सव करने के लिए यहां आया हूं। अतः आप मुझे देखकर डरें नहीं।

(श्लोक ३३२-३३६)

ऐसा कहकर माता को अवस्वापिनी निद्रा में निद्रित कर तीर्थङ्कर की एक अन्य आकृति निर्मित कर उनके पास सुला दी। इन्द्र ने पांच रूप धारण किए। काम रूप एक होकर भी अनेक रूप धारण कर सकते हैं। एक रूप से पुलकित बने भक्ति से मन की तरह शरीर को भी शुद्ध कर, हे भगवन्, आज्ञा दीजिए, ऐसा कहकर गोशीर्ष रस में लिप्त निज हाथों से प्रभु को ग्रहण किया। द्वितीय रूप से पीछे खड़े होकर पर्वत शिखर स्थित पूर्णिमा के चन्द्र का भ्रम उत्पन्नकारी सुन्दर छत्र प्रभु के मस्तक के ऊपर लगाया। अन्य दो रूपों से दोनों ओर खड़े होकर मानो साक्षात् पुण्य समूह हों ऐसे दो चंवर हाथ में धारण किए। अन्तिम पांचवें रूप से प्रतिहार की तरह वज्र धारण किया। बार-बार ग्रीवा को घुमाकर वे प्रभु को देखते हुए आगे-आगे चलने लगे। भ्रमर जिस प्रकार कमल को घेर लेता है उसी प्रकार सामानिक पर्षदा के देवगण त्रायस्त्रिंश देवता और अन्य सभी देवों ने प्रभु को घेर लिया। फिर इन्द्र प्रभु का जन्मोत्सव करने की इच्छा से उन्हें हाथों में उठा

कर मेरुपर्वत की ओर गए। शब्द सुनकर मृग जिस प्रकार आगे जाने के लिए परस्पर धक्का देकर दौड़ते हैं देवता भी उसी प्रकार प्रभु के पीछे अहंपूर्विका से (मैं आगे जाऊँगा) दौड़ने लगे।
(श्लोक ३३७-३४६)

प्रभु को जो दूर से देख रहे थे उनके दृष्टिपात से समस्त आकाश मानो विकसित नीलकमल से भर गया हो ऐसा प्रतीत हो हो रहा था। धनवान जिस प्रकार अपने धन की ओर दृष्टि रखते हैं उसी भांति देवता भी बार-बार आकर प्रभु को देखने लगे। भीड़ के कारण वे एक दूसरे पर गिरते हुए परस्पर धक्का-मुक्की करते हुए ऐसे लग रहे थे मानो समुद्र तरंग अपने घात-प्रतिघात में उच्छ्वलित हो रहा है। आकाश में इन्द्र रूपी वाहन पर चढ़कर जाने के समय भगवान् के आगे चलमान ग्रह, नक्षत्र और तारे पुष्प समूह से लगने लगे। एक मुहूर्त में इन्द्र मेरुपर्वत के शिखर स्थित दक्षिण दिशा की अति पाण्डुकवला नामक शिला के निकट आए और वहां प्रभु को गोद में लेकर पूर्व दिशा की ओर मुखकर रत्न सिंहासन पर बैठ गए। (श्लोक ३४७-३५२)

उस समय ईशान देवलोक के इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। उन्हें अवधिज्ञान से सर्वज्ञ का जन्म ज्ञात हुआ। उन्होंने भी सौधर्मेन्द्र की तरह सिंहासन का परित्याग कर पांच-सात कदम प्रभु के सूतिकागृह की ओर बढ़कर प्रभु को नमस्कार किया। उनकी आज्ञा से लघु पराक्रम नामक सेनापति ने उच्च स्वर विशिष्ट महाघोष नामक घण्टा बजाया। उसके शब्द से अट्ठाइस लक्ष विमान इस प्रकार गूंज उठे जिस प्रकार हवा से उच्छ्वलित और अग्रगामी समुद्र के शब्द से तट स्थित पर्वत गुफा गूंज जाती है। सुबह के समय शङ्खध्वनि के शब्द से जिस प्रकार निद्रित राजा जागृत होते हैं उसी प्रकार उस विमान के देवता उस घण्टा नाद से जागृत हो गए। महाघोषा घण्टे का शब्द जब शान्त हुआ तब सेनापति ने मेघ के समान गम्भीर शब्द से यह घोषणा की—जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के मध्य भाग में विनीता नामक नगरी में जितशत्रु राजा की विजया रानी के गर्भ से द्वितीय तीर्थङ्कर का जन्म हुआ है। उनके जन्माभिषेक के लिए हमारे स्वामी इन्द्र मेरुपर्वत पर जाएंगे। अतः हे देवगण, आप भी स्वामी के साथ जाने के लिए तैयार हो जाएं। इस घोषणा को सुनकर जिस प्रकार मन्त्र के आकर्षण से आकृष्ट होकर मनुष्य

जाता है उसी प्रकार समस्त देवता ईशान पर्वत के निकट गए। फिर हाथ में त्रिशूल लेकर अनेक रत्नों के अलङ्कार धारण से चलमान रत्न पर्वत तुल्य श्वेत वस्त्रधारी पुष्पमाल पहने हुए वृहद् वृषभ के वाहन युक्त सामानिक आदि करोड़ों देवताओं द्वारा सेवित उत्तरार्द्ध स्वर्ग के अधिपति ईशानेन्द्र ने पुष्पक नामक विमान में बैठ कर दक्षिण दिशा के ईशान कल्प के पथ से परिवार सहित प्रस्थान किया। अल्प समय के मध्य ही वे असंख्य द्वीप समुद्रों का अतिक्रम करते हुए नन्दीश्वर द्वीप आ पहुँचे। वहां उन्होंने ईशान कोण के रतिकर पर्वत पर स्व विमान को हेमन्त ऋतु के दिन की तरह छोटा किया। फिर और समय नष्ट न कर क्रमश: विमान को छोटा करते हुए शिष्य की तरह नम्र होकर मेरुपर्वत स्थित प्रभु के पास आए। (श्लोक ३५३-३६७)

फिर सनत् कुमार, ब्रह्म, शुक्र और प्राणत स्वर्ग के इन्द्र ने भी सुघोषा घण्टा बजाकर नैगमेषी देव द्वारा देवों को सन्देश दिया। देव आए। वे उनके साथ विमान में बैठकर शक्रेन्द्र की तरह उत्तर दिशा की राह से नन्दीश्वर द्वीप आए और वहां अग्निकोण के रतिकर पर्वत पर अपने विमान को छोटा कर उसी क्षण वहां से मेरुपर्वत पर इन्द्र की गोद में स्थित प्रभु के निकट पहुँचे और चन्द्र के पास जिस प्रकार नक्षत्र रहता है उसी प्रकार वहां स्थित हो गए। (श्लोक ३६८-३७०)

माहेन्द्र, लान्तक, सहस्रार और अच्युत नामक इन्द्र ने भी महाघोषा घण्टा बजवाकर लघु पराक्रम सेनापति द्वारा देवताओं को बुलवाया। उनके साथ विमान में बैठकर ईशानेन्द्र की तरह वे भी दक्षिण मार्ग से नन्दीश्वर द्वीप आए और वहां ईशान कोण के रतिकर पर्वत पर विमान को छोटा कर जिस प्रकार पथिक वन के पुष्पित और फलों के भार से झुके वृक्ष की ओर जाते हैं उसी प्रकार मेरुपर्वत पर प्रभु के निकट जा पहुँचे। (श्लोक ३७१-३७३)

उसी समय दक्षिण श्रेणी के अलङ्कार तुल्य चमर-चंचा पुत्री में सुधर्मा सभा के मध्य चरमेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। वे अवधिज्ञान से तीर्थङ्कर के पवित्र जन्म से अवगत हुए। सिंहासन से उठकर सात-आठ कदम तीर्थङ्कर के जन्मस्थान की दिशा में आगे बढ़े और उनकी वन्दना की। उनकी आज्ञा से तभी द्रुम नामक पैदलवाहिनी के सेनापति ने सुस्वरयुक्त ओघस्वर नामक घण्टा

बजाया। उसका शब्द शान्त होने पर पूर्वानुरूप (ईशान लोक के सेनापति की भांति) द्रुम ने घोषणा की। इससे सन्ध्या के समय पक्षीगण जिस प्रकार वृक्षों पर लौट आते हैं उसी प्रकार समस्त देवता चरमेन्द्र के पास आए। इन्द्र की आज्ञा से उनके अभियोगिक देवताओं ने अर्द्धलक्ष योजन प्रमाण एक विमान तैयार करवाया। पांच सौ योजन ऊँचा इन्द्रध्वज सुशोभित वह विमान कूपक (मस्तूल) सहित जहाज-सा लग रहा था। चौसठ हजार सामानिक देव, तैंतीस त्रायस्त्रिंश देवता, चार लोकपाल, तीन पर्षदा, सात वृहत् सैन्यवाहिनी के सात सेनापति, सामानिक देवताओं के चार गुणा (अर्थात् २,५६,०००) आत्मरक्षक देवता, अन्य असुर कुमार, देव और देवी, पांच महिषी और अन्य परिवार सहित चमरेन्द्र उस विमान पर चढ़े। क्षणमात्र में वे नन्दीश्वर द्वीप पहुँचे। वहां उन्होंने रतिकर पर्वत पर शक्रेन्द्र की तरह विमान को छोटा किया। फिर गंगा का प्रवाह जिस प्रकार पूर्व समुद्र में पहुंचता है उसी प्रकार शीघ्रता से वे मेरुपर्वत के शिखर पर प्रभु चरणों में उपस्थित हुए। (श्लोक ३७४-३८४)

उत्तर श्रेणी में अलङ्कार स्वरूप वलिचंचा नामक नगरी है। वहां वलि नामक इन्द्र राज्य करते हैं। उनका सिंहासन कम्पित हुआ। अवधिज्ञान से वे अर्हत् जन्म से अवगत हुए। फिर महाद्रुम नामक पदातिक सेनावाहिनी के सेनापति को आदेश दिया। उनकी आज्ञानुसार महौघस्वर नामक घण्टा उन्होंने तीन बार बजाया। घण्टे का शब्द बन्द होने पर उन्होंने असुरों के कानों के लिए अमृत तुल्य द्वितीय तीर्थङ्कर के जन्म की सूचना सुनाई। यह सुनकर समस्त देव उसी प्रकार वलीन्द्र के पास आए जिस प्रकार मेघ गर्जन को सुनकर हंस मानसरोवर पर जाता है। साठ हजार सामानिक देवता इसके चार गुणा (२,४०,०००) आत्मरक्षक देवता चमरेन्द्र के साथ जितने देवता और परिवार की संख्या थी उतने ही देव और परिवार सहित चमरेन्द्र की ही तरह वृहद और समस्त साधन सम्पन्न विमान में बैठकर वे नन्दीश्वर द्वीप के रतिकर पर्वत पर अपने विमान को छोटा कर मेरुपर्वत के शिखर पर प्रभु के निकट आए। (श्लोक ३८५-३९०)

फिर नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार नामक दक्षिण

श्रेणी में रहने वाले देवलोक के अधीश्वर यथाक्रम से धरणेन्द्र, हरि, वसुदेव, अग्निशिख, वेलम्ब, सुघोष, जलकान्त, पूर्ण और अमित नामक इन्द्र और उत्तर श्रेणी के भूतानन्द, हरिशिख, वेणुधारी, अग्निमानव, प्रभंजन, महाघोष, जलप्रभ, अवशिष्ट और अमितवाहन इन्द्र का आसन कम्पित होने से अवधिज्ञान द्वारा वे अर्हत् के जन्म से अवगत हुए। धरणेन्द्रादि का घण्टा भद्रसेन नामक सेनापति और भूतानन्दादि का घण्टा दक्ष नामक सेनापति ने बजवाया। इससे उभय श्रेणी के मेघस्वर, क्रौञ्चस्वर, हंसस्वर, मंजुस्वर, नन्दीस्वर, नन्दीघोष, सुस्वर, मधुस्वर और मंजुघोष नामक घण्टे बज उठे। घण्टे की आवाज सुनकर उस भुवनपति के उभयश्रेणी के देवता इस प्रकार अपने-अपने इन्द्र के पास आए जिस प्रकार अश्व अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं। इन्द्र की आज्ञा से उनके आभियोगिक देवगण रत्न और स्वर्ण के विचित्र और पांच सौ हजार योजन विस्तारयुक्त विमान और अढ़ाई सौ योजन ऊँचा इन्द्रध्वज तैयार किया। प्रत्येक इन्द्र की छह महिषियां, छह हजार सामानिक देवता इसके चार गुणा (२४०००) अंगरक्षक देवता और चमरेन्द्र की तरह अन्य त्रायस्त्रिंशादि देवता सहित निज-निज विमान में बैठकर मेरुपर्वत पर प्रभु के निकट आए। (श्लोक ३९१-४०२)

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व के अधिपति काल, स्वरूप, पूर्णभद्र, भीम, सत्पुरुष, अतिकाय और गीतरति नामक दक्षिण श्रेणी पर निवास करने वाले व महाकाल, प्रतिरूप, मणिभद्र, महाभीम, किम्पुरुष, महापुरुष, महाकाय व गीतयशा नामक उत्तर श्रेणी में निवास करने वाले इस प्रकार उभयश्रेणी के अधिपति स्व-आसन कम्पित होने से प्रभु जन्म से अवगत हुए। दोनों ही ने अपने-अपने सेनापति द्वारा मंजुस्वर और मंजुघोष नामक घण्टा बजवाया। घण्टे का शब्द बन्द होने पर सेनापतियों ने प्रभु के जन्म की घोषणा की। इससे पिशाच आदि व्यन्तर देवगणों का समूह अपने-अपने इन्द्र के निकट आया। उस इन्द्र के निकट त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नामक देव नहीं थे। कारण, उनके निकट सूर्य चन्द्र की तरह त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवता नहीं रहते। प्रत्येक इन्द्र अपने चार-चार हजार सामानिक देवता और सोलह हजार आत्मरक्षक देवता सहित आभियोगिक

देवताओं द्वारा निर्मित विमान में बैठकर मेरुपर्वत पर प्रभु के निकट आए। (श्लोक ४०३-४११)

इस प्रकार दक्षिण और उत्तर श्रेणी पर रहने वाले अणपन्निकादिक बाण व्यन्तरों के आठ-आठ समूह के सोलह इन्द्र ने भी पिशाचादि इन्द्र की तरह आसन कम्पित होने से अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म अवगत किया। उन्होंने भी अपने-अपने सेनापति को मंजुस्वर और मंजुघोष नामक घण्टे बजाने को कहा और प्रभु के जन्म की घोषणा की। फिर वे आभियोगिक देवों द्वारा निर्मित विमान में बैठकर अपने-अपने व्यन्तर देव और पूर्ववत परिवार सहित मेरुपर्वत पर प्रभु के निकट आए। (श्लोक ४१२-४१६)

असंख्य चन्द्र-सूर्य भी अपने-अपने परिवार सहित जिस प्रकार पुत्र पिता के पास आते हैं उसी प्रकार प्रभु के निकट आए। समस्त स्वतन्त्र इन्द्र भक्ति के कारण परतन्त्र की तरह प्रभु का जन्मोत्सव करने के लिए मेरुपर्वत पर आए। (श्लोक ४१७)

उस समय ग्यारह और बारहवें देवलोक के अच्युत नामक इन्द्र ने स्नान कराने का द्रव्य लाने के लिए आभियोगिक देवताओं को आदेश दिया। वे ईशान दिशा की ओर जाकर ऊँचे प्रकार का वैक्रिय समुद्घात कर सोने का, चांदी का, रत्न का, सोना और चांदी का, सोना और रत्न का, चांदी और रत्न का, सोना-चांदी और रत्न का, और मिट्टी के प्रत्येक प्रकार के १००८ (अर्थात् समस्त प्रकार के ८०६४) कलश तैयार किए। साथ ही इतनी ही संख्या में झारियां, दर्पण, छोटी-छोटी कटोरियां, डिब्बे, रत्न करण्डिका और फूलदानियां उसी समय तैयार कीं। ऐसा लगा मानो ये सभी वस्तुएँ भण्डार में रखी हुई थीं। केवल बाहर निकालना पड़ा है। वे स्फूर्ति भरे देव कलशों को लिए इस प्रकार क्षीर समुद्र गए जिस प्रकार रमणियां जल भर कर लाने के लिए सरोवर तट पर जाती हैं। मानो वे मंगल शब्द कर रहे हों इस प्रकार के बुद-बुद शब्दकारी कलशों को क्षीरोदक से पूर्ण किया। उन लोगों ने पुण्डरीक, पद्म, कुमुद, उत्पल, सहस्रपत्र, शतपत्र जाति के कमल भी तोड़े। वहां से वे पुष्करवर समुद्र भी गए। यात्रीगण जिस भांति द्वीपों से द्रव्य संग्रह करते हैं उसी प्रकार उन्होंने वहां से नील कमलादि ग्रहण किए। भरत व ऐरावत क्षेत्र के मगधादि तीर्थों के जल भी उन्होंने लिए। संतप्त पथिक की तरह गंगादि नदी और

पद्मादि द्रह से उन्होंने मिट्टी, जल और कमल लिए। समस्त कूल पर्वत से, समस्त वैताढ्य पर्वत से, समस्त विजय से, समस्त मध्यवर्ती पर्वतों से, देव कुरु और उत्तर कुरु से, सुमेरु पर्वत की परिधि में स्थित भद्रशाल, नन्दन, सोमनस और पाण्डुक वन से और इसी भांति मलय, दर्दुर आदि पर्वतों से श्रेष्ठ-श्रेष्ठ औषधि, गन्ध, पुष्प और सरसों उन लोगों ने ग्रहण की। वैद्य जिस प्रकार औषधि एकत्र करता है, गन्धी सुगन्धित पदार्थ, उसी प्रकार देवताओं ने सभी वस्तुएं एकत्र कीं। तदुपरान्त सादर सब वस्तुओं के लिए वे इतनी द्रुतगति से स्वामी के निकट आए मानो वे अच्युतेन्द्र के मन के साथ-साथ स्पर्द्धा कर रहे हों। (श्लोक ४१८-४३४)

अच्युतेन्द्र ने दस हजार सामानिक देवता, तेतीस त्रायस्त्रिंश देवता, सात सैन्यवाहिनी, उनके सात सेनापति और चालीस हजार आत्मरक्षक देवता सहित उत्तरीय वस्त्र धारण कर प्रभु के समीप जाकर उन्हें पुष्पांजलि देकर चन्दन से चर्चित और विकसित कमलों से आच्छादित एक हजार आठ कलश लिए फिर भक्ति से आनत स्वयं की तरह आनतमुख कलशों से प्रभु का अभिषेक करना प्रारम्भ किया। यद्यपि वह जल पवित्र था फिर भी स्वर्णालङ्कारों में मणि जिस प्रकार अधिक प्रकाशित होती है उसी प्रकार प्रभु के सम्पर्क से जल और भी पवित्र हो गया। जलधारा की ध्वनि से कलश से शब्द बाहर निकल रहे थे। लगता था मानो वे स्नात्र विधि का मन्त्र पाठ कर रहे हों। कुम्भ से गिरते जल का प्रवाह प्रभु की लावण्य सरिता में मिलकर त्रिवेणी संगम को प्रकाशित कर रहा था। प्रभु के सुवर्ण और गोरे वर्ण में प्रसारित वह जल स्वर्णमय हेमवन्त पर्वत के कमल खण्ड में प्रसारित गंगा जल की तरह शोभा पा रहा था। समस्त शरीर में फैले उस मनोहर और निर्मल जल के कारण प्रभु ने वस्त्र धारण कर रखा हो ऐसे लग रहे थे। वहाँ भक्ति-भाव से आकुल देवताओं में से कोई छत्र धारण कर रहे थे। कोई चँवर डुला रहे थे। कोई धूपदान लिए खड़े थे। कोई पुष्पगन्ध ग्रहण कर रहे थे। कोई जय-जय शब्द कर रहे थे। कोई हाथ में दण्ड लिए तूर्य बजा रहे थे। कोई शङ्ख बजा रहे थे। इससे उनके गले और मुख फूल उठे थे। कोई कांस्य झांझ बजा रहे थे। कोई अखण्डित रत्नदण्ड से झालर बजा रहे। कोई डमरू बजा रहे थे। कोई डिण्डिम पीट रहे थे। कोई नर्तकी की तरह ताल सुर सहित

उच्च कोटि का नृत्य कर रहे थे। कोई विट (धूर्त्त) और चेट (भांड) की तरह हँसाने के लिए विचित्र प्रकार की चेष्टा कर रहे थे। कोई व्यवस्थित रूप से गायक की भांति गीत गा रहे थे। कोई ग्वाले की तरह चिल्लाकर गा रहे थे। कोई बत्तीस पात्रों के नाटक का अभिनय दिखा रहे थे। कोई गिर रहे थे, कोई कूद रहे थे, कोई रत्न वर्षा कर रहे थे, कोई स्वर्णवृष्टि कर रहे थे, कोई अलंकार बरसा रहे थे। कोई कपूर, चन्दन इत्यादि के चूर्ण उत्क्षिप्त कर रहे थे। कोई माल्य, फल, फूल बरसा रहे थे। कोई चतुरता-पूर्वक चल रहे थे, कोई सिंहनाद कर रहे थे। कोई अश्व की तरह हिनहिना रहे थे। कोई हस्ती की तरह चिंघाड़ रहे थे। कोई रथ चक्र की ध्वनि कर रहे थे। कोई तीन नाद (ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त) कर रहे थे। कोई पाद प्रहार से मन्दराचल को कम्पित कर रहे थे कोई चपेटाघात से पृथ्वी को चूर्ण कर रहे थे। कोई आनन्द के आधिक्य में बार-बार कोलाहल कर रहे थे। कोई मण्डल तैयार कर रास कर रहे थे। कोई अग्नि में जल रहे हों ऐसा विभ्रम पैदा कर रहे थे। कोई कौतुक से शब्द कर रहे थे। कोई मेघ की तरह खूब जोर से गरज रहे थे। कोई विद्युत की तरह चमक रहे थे। इस प्रकार देवगण सानन्द अनेक प्रकार के खेल खेल रहे थे। उसी समय अच्युतेन्द्र ने आनन्दपूर्वक भगवान का अभिषेक किया। (श्लोक ४३५-४५९)

निष्कपट भक्ति सम्पन्न इन्द्र ने मस्तक पर मुकुट की तरह दोनों हाथों से अंजलि कर जोर-जोर से जय-जय शब्द उच्चारण किया। फिर चतुर संवाहक की तरह सुख-स्पर्श हाथों से देवदूष्य वस्त्र द्वारा प्रभु का शरीर पोंछा। नट जिस प्रकार नाटक करता है उसी भांति वे देवताओं को लेकर प्रभु के सामने अभिनय करने लगे। तदुपरान्त आरणाच्युत कल्प के इन्द्र ने गोशीर्ष चन्दन के रस से प्रभु का विलेपन किया। दिव्य और भूमि से उद्गत पुष्पों से प्रभु की पूजा की। रजत के स्वच्छ और अखण्ड अक्षतों से प्रभु के सम्मुख कुम्भ, भद्रासन, दर्पण, श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्दावर्त, वर्धमान और मत्स्य युगल इन आठ मांगलिकों की रचना की। सान्ध्य आकाश की कणिका की तरह पंचवर्णीय पुष्पों के सम्भार प्रभु के सम्मुख रखे। वह सम्भार घुटने तक ढक जाए ऐसा था। धूम्र रेखा से मानो स्वर्ग को तोरणयुक्त कर रहे हों इस भांति

उन्होंने धूपाग्नि को प्रज्वलित किया। धूपदान ऊँचा करते समय देवगण वाद्य बजा रहे थे। वह वाद्य ध्वनि ऐसी लग रही थी मानो वह उच्च ध्वनिकारी महाघोष घण्टे को भी पराजित कर रही हो। फिर ज्योतिर्मण्डली की लक्ष्मी का अनुसरण करने वाली और उच्च शिखा मण्डलयुक्त आरती कर सात-आठ कदम पीछे हटकर प्रणाम कर रोमांचित शरीर से अच्युतेन्द्र ने इस भाव से स्तुति की— (श्लोक ४६०-४७०)

हे प्रभो, शुद्ध स्वर्ण खण्ड-सी द्युति से आकाश को आच्छादन करने वाला और प्रक्षालन बिना पवित्र आपका शरीर किस पर आक्षेप न करें? (अर्थात् अन्य की तुलना में आपका शरीर सुगन्धित पदार्थों के विलेपन बिना ही नित्य सुगन्धित है।) इससे देवियों के नेत्र मन्दारमाला की तरह भ्रमर-से हो जाते हैं। (अर्थात् जैसे मन्दार पुष्पों की माला पर भौंरे मंडराते हैं उसी प्रकार देवांगनाओं की आंखें आपके शरीर पर फिरा करती हैं।) हे नाथ, दिव्य अमृत के रसास्वाद के पोषण से मानो नष्ट हो गया हो ऐसे रोग रूपी सर्प-समूह आपकी देह में प्रवेश नहीं कर सकते। (अर्थात् आपके शरीर पर किसी रोग का असर नहीं होता है।) दर्पण तल में लीन प्रतिबिम्ब जैसे आपके शरीर पर स्वेद प्रवाहित होना क्या सम्भव है? (अर्थात् आपके शरीर में कभी पसीना नहीं आता।) हे वीतराग, आपका अन्तःकरण ही केवल राग रहित नहीं है आपकी देह का रक्त भी दुग्ध-सा श्वेत है। आपके अन्य लक्षण पृथ्वी से स्वतन्त्र हैं यह मैं कह सकता हूं। कारण आपका मांस भी उत्कृष्ट है। अवीभत्स और श्वेत है। जल और स्थल उत्पन्न पुष्पमाल्यों को छोड़कर भ्रमर आपके निश्वास की सुगन्ध का ही अनुसरण करते हैं। आपकी संसार स्थिति भी लोकोत्तर और चमत्कारी है। कारण आपका आहार-विहार (शौच क्रिया) आंखों से दिखाई नहीं देता। (श्लोक ४७१-४७८)

इस भांति इन्द्र ने उनकी अतिशय गर्भित भाव-स्तुति की और कुछ पीछे हटकर खड़े हो गए। वहाँ वे प्रभु भक्ति सम्पन्न होकर उनकी सेवा करने के लिए युक्त कर से स्थित हो गए। तब अवशिष्ट बासठ इन्द्रों ने भी अपने-अपने परिवार सहित अच्युतेन्द्र की तरह प्रभु का अभिषेक किया। अभिषेक के पश्चात् स्तुति

नमस्कार कर कुछ पीछे हटकर हाथ जोड़कर दास की तरह प्रस्तुत होकर उपासना करने लगे। (श्लोक ४७९-४८१)

सौधर्म देवलोक के इन्द्र की तरह ईशान कल्प के इन्द्र ने भी अत्यन्त भक्ति सम्पन्न अपनी देह से पांच रूप धारण किए। एक रूप से अर्द्धचन्द्राकृति अति पाण्डुकबला नामक शिला पर ईशान कल्प की तरह सिंहासन पर बैठे। जिन-भक्ति में प्रयत्नशील उन्होंने प्रभु को शक्रेन्द्र की गोद से अपनी गोद में इस प्रकार लिया जिस भांति किसी को एक रथ से दूसरे रथ में लिया जाता है। द्वितीय रूप से उन्होंने प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण किया। तृतीय और चतुर्थ रूप से वे प्रभु के दोनों ओर चँवर लेकर डुलाने लगे और पञ्चम रूप से हाथ में त्रिशूल लेकर जगत्पति के सम्मुख खड़े हो गए। उस समय उदार आकृति सम्पन्न प्रतिहारी की तरह खूब सुन्दर लग रहे थे। तदुपरान्त उसी ईशान कल्प के इन्द्र ने अपने आभियोगिक देवताओं द्वारा तत्क्षण अभिषेक के उपकरण मँगवाए। उन्होंने भगवान् के चारों ओर मानो स्फटिक मणि के द्वितीय पर्वत हों इस प्रकार स्फटिकमय चार वृषों का निर्माण किया। उन चार वृषभों के आठ शृंगों से चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणों-सी जल की आठ धारा निकली। वे धाराएँ ऊपर ही मिलकर जगत्पति के के समुद्र समान मस्तक पर गिरने लगीं। इस प्रकार उन्होंने अन्य प्रकार से प्रभु का अभिषेक किया क्योंकि शक्तिमान पुरुष कवि की तरह विभिन्न प्रकार की रचना से, भाव-भंगिमा से स्वयं को प्रकट करते हैं। अच्युतेन्द्र की तरह उन्होंने भी मार्जन, विलेपन, पूजा, अष्टमंगल, आलेखन एवं आरती आदि विधिपूर्वक की। फिर शक्रस्तव से जगत्पति को वन्दना-नमस्कार कर आनन्द से गद्गद् स्वर में इस प्रकार स्तुति की— (श्लोक ४८२-४९३)

हे त्रिभुवन नाथ, विश्ववत्सल, पुण्यलता को उद्गत करने में नवीन, मेघतुल्य हे जगत्प्रभो, आपकी जय हो। हे स्वामी! जिस प्रकार पर्वत से नदी-धारा निकलती है, पृथ्वी को प्रसन्न करने के लिए आप विजय नामक विमान से अवतरित हुए हैं। मोक्ष रूपी वृक्ष के मानो बीज हों ऐसे उज्ज्वल तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) जल की शीतलता की तरह आपको जन्म से ही प्राप्त हैं। हे त्रिभुवनेश्वर, दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह जो आपको हृदय में

धारण करते हैं उनके सम्मुख सब प्रकार की लक्ष्मी सदैव खड़ी रहती है। भयंकर कर्म रूपी व्याधि से पीड़ित प्राणियों को रोगमुक्त करने के लिए उसके भाग्योदय से ही आप वैद्य के समान उत्पन्न हुए हैं। हे स्वामी, मरुभूमि के पथिक की तरह आपके दर्शन रूपी अमृत के उत्तम स्वाद से मुझे जरा भी तृप्ति नहीं होती। हे प्रभो, जिस प्रकार सारथी से रथ और कर्णधार से नौका ठीक प्रकार चलती है उसी प्रकार आपके उत्पन्न होने से जगत् के अधिवासी सत्पथ पर चलेंगे। हे भगवन्, आपके चरण-कमलों की सेवा का सुयोग पाकर मेरा ऐश्वर्य अब कृतार्थ हो गया। इस प्रकार एक सौ आठ श्लोकों से उन्होंने प्रभु की स्तुति की। (श्लोक ४९४-५०२)

फिर पूर्व की तरह इन्द्र ने पांच रूप धारण किए। एक रूप से उन्होंने प्रभु को हाथों में लिया, दूसरे रूप में प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण किया। तीसरे और चौथे रूप से हाथों में चँवर लिया और पंचम रूप से वज्र लेकर प्रभु के सम्मुख खड़े हो गए। तदुपरांत निज इच्छानुसार वे नम्रात्मा यथायोग्य परिवार सहित विनीता नगरी में जितशत्रु राजा के घर आए। वहां उन्होंने विजया देवी माता के निकट रखे तीर्थङ्कर बिम्ब को उठा लिया और तीर्थङ्कर को सुला दिया। उन्होंने प्रभु के मस्तक के पास सूर्य-चन्द्र के समान उज्ज्वल युग्म कुण्डल और शीतल एवं कोमल देवदूष्य वस्त्र रखे। चन्द्रातप में आकाश से उतरती किरण की तरह झिलमिलाता सुवर्ण कंकणयुक्त सुसज्जित श्रीदाम गण्ड बांधा। प्रभु के नेत्रों को आनन्दित करने के लिए मणिरत्न सहित हार और अर्द्धहार वहां लटकाए। फिर चन्द्र जिस प्रकार कुमुदिनी की, सूर्य जिस प्रकार पद्मिनी की निद्रा हरण कर लेते हैं उसी प्रकार उन्होंने विजय देवी की प्रदत्त निद्रा हरण कर ली। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर की सूचना के अनुसार जृम्भक जाति के देवताओं ने जितशत्रु राजा के घर में उसी समय बत्तीस कोटि मूल्य के सुवर्ण, रौप्य और रत्नों की पृथक्-पृथक् वृष्टि की। बत्तीस नन्दभद्रासन बरसाए। मन्यंग कल्प-वृक्ष की तरह वस्त्र और भद्रशालिक वन से चुन-चुनकर लाए गए हों ऐसे पत्र-पुष्प और फलों की चारों ओर वृष्टि की। चित्रांग नामक कल्पवृक्ष की तरह उन्होंने विचित्र वर्णों के पुष्पों की वृष्टि की। एलादि चूर्ण को उड़ाकर ले जा सके ऐसी दक्षिणी हवा की तरह गन्धवृष्टि और पवित्र चूर्ण की वृष्टि की। जिस प्रकार

पुष्करावर्त मेघ वृष्टि करता है उसी प्रकार अति उदार वसुधारा की वृष्टि की। फिर शक्रेन्द्र की आज्ञा से उनके आभियोगिक देवों ने यह घोषणा की—

हे वैमानिक, भुवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवगण, तुम सब सावधान होकर सुनो, जो अर्हत् और अर्हत् माता का अशुभ करने की इच्छा करेगा उसका मस्तक अर्जक (तुलसी) की मंजरी की तरह सात प्रकार से छेद दिया जाएगा। (श्लोक ५०३-५१९)

उधर अन्य इन्द्र देवताओं के साथ आनन्द भरे हृदय से मेरु पर्वत से नन्दीश्वर द्वीप गए। सौधर्मेन्द्र भी भगवान् को नमस्कार कर जितशत्रु राजा के घर से निकले और उसी समय नन्दीश्वर द्वीप गए। उन्होंने दक्षिण अंजनाद्रि के शाश्वत चैत्य में शाश्वत अर्हत् प्रतिमा के सम्मुख अष्टाह्निका महोत्सव किया। उनके चार लोकपालों ने अंजनाद्रि के चारों ओर चार दधिमुख पर्वत पर स्थित चैत्य में आनन्दपूर्वक उत्सव किया। ईशानेन्द्र ने उत्तर अंजनाद्रि पर्वत स्थित शाश्वत चैत्य में शाश्वत जिन-प्रतिमाओं के सम्मुख अष्टाह्निका महोत्सव किया। उनके चार लोकपालों ने अंजनाद्रि के चारों दिशाओं में चार दधिमुख पर्वत चैत्य में ऋषभादि प्रतिमाओं का उत्सव किया। चमरेन्द्र ने पूर्व अंजनाद्रि पर और बलिन्द्र ने पश्चिम अंजनाद्रि पर अष्टाह्निका महोत्सव किया। चमरेन्द्र के लोकपालों ने पूर्व अंजनाद्रि के चारों ओर दधिमुख पर्वतों पर और बलीन्द्र के लोकपालों ने पश्चिम अंजनाद्रि की चारों दिशाओं में स्थित चार दधिमुख पर्वतों पर स्थित चैत्यों में जिन-प्रतिमाओं का उत्सव किया। (श्लोक ५२०-५२८)

उस रात्रि में प्रभु जन्म के पश्चात् वैजयन्ती देवी ने भी गंगा जिस प्रकार स्वर्ण कमल को उत्पन्न करती है उसी प्रकार सुखपूर्वक एक पुत्र को जन्म दिया। (श्लोक ५२९)

पत्नी और भ्रातृवधू विजया और वैजयन्ती के परिवार ने राजा जितशत्रु के परिवार को सम्वर्द्धना दी। सम्वर्द्धित होकर राजा ने भी उन्हें इस भांति पुरस्कार दिया जिससे उनके कुल में भी लक्ष्मी कामधेनु की तरह अविच्छिन्न हो गई। उस समय उनका शरीर इस प्रकार प्रफुल्लित हो गया जैसे मेघ के आगमन से सिन्धु नदी और चन्द्रमा के आगमन से समुद्र प्रफुल्लित होता है। राजा ने पृथ्वी से धैर्य, आकाश से प्रसन्नता और पवन से तृप्ति प्राप्त की।

उन्होंने उसी समय अपने कारागार के द्वार उन्मुक्त कर दिए। यहां तक कि अपने शत्रुओं को भी मुक्त कर दिया। फलत: बन्धन केवल हस्ती आदि को ही रहा। इन्द्र जिस प्रकार शाश्वत जिन-बिम्बों की पूजा करते हैं उसी प्रकार राजा ने भी जिन-मन्दिर में जाकर जिन-मूर्त्ति की अद्‌भुत पूजा की। याचकों में स्व-पर का भेद न कर उन्हें धन दान से प्रसन्न किया। कारण, उन्नत मेघों की जलधार सब पर समान वर्षा करती है। खूंटे से खुले गाय-वत्स की तरह उछलने वाले विद्यार्थियों के साथ अध्यापक सूत्रमातृका का पाठ करते हुए वहां आए। कहीं ब्राह्मणों की वेदोचित मन्त्र की उच्च ध्वनि होने लगीं, कहीं लग्नादि के विचार से उत्कृष्ट मुहूर्त्त सम्बन्धी उक्तियां होने लगीं। कहीं कुलीन कामिनियों का समूह हर्ष उत्पन्नकारी ध्वनि में गीत गाने लगीं। कहीं वीरांगनाओं की मंगल गीतध्वनि सुनाई पड़ने लगी। कहीं बन्दियों की कल्याण कल्पना के समान महाकोलाहल होने लगा। कहीं चारण आदि का सुन्दर द्विपथक—आशीर्वाद ध्वनि सुनायी पड़ने लगी तो कहीं चेटक (सेवक) हर्ष जन्य उच्च स्वर में बात-चीत करने लगे तो कहीं याचकों के आगमन से उग्र बने छड़ीदारों का कोलाहल सुनायी देने लगा। इस भांति वर्षाकालीन मेघ से भरे आकाश से उठे गर्जन की तरह राजगृह के प्रत्येक आंगन में विभिन्न प्रकार के शब्द प्रसारित होने लगे। (श्लोक ५३०-५४२)

नगरजन कहीं कुंकुम आदि का लेप करने लगे। कहीं कोई रेशमी वस्त्र पहनने लगे, कहीं कोई दिव्य माल्य के अलङ्कारों से अलंकृत होने लगे। कहीं कर्पूर डाले पान से लोग प्रसन्न होने लगे। कहीं घर के आंगन में कुछ कुंकुम छिड़कने लगे। कहीं नील कमल की तरह मुक्ता के स्वस्तिक अंकित करने लगे। कहीं कुछ नवीन कदली वृक्ष के स्तम्भों पर पत्रों की झालर लटकाने लगे तो कहीं पत्रों की झालर के दोनों ओर वे स्वर्ण कुम्भ रखने लगे। उसी समय साक्षात् ऋतु लक्ष्मी-सी फूलों से गुम्फित वेणीयुक्त पुष्पमालाओं से कवरी को वेष्टित किए गले में हिलती हुई पुष्पमाल्य पहने नगर की गन्धर्व सुन्दरियां देवांगनाओं की तरह तालस्वर सहित गीत गाने लगीं। रत्न के कर्णाभरण, भुजबन्ध, कण्ठहार, कंकण और नुपूरों से वे रत्न पर्वत की देवियों की तरह शोभा पा रही थीं। उसी समय नगर की कुलवती स्त्रियां भी पवित्र दूर्वा

सहित पूर्ण पात्र हाथ में लिए वहाँ आने लगीं। वे कुसुम्बी रंग के सुन्दर उत्तरीय वस्त्र के आवरण से आवृत्त होने से सान्ध्य मेघ के आवृत्त पूर्वदिक् लक्ष्मी के मुख की शोभा हरण कर रही थीं। कुंकुम के अंगराग से शरीर की शोभा को बढ़ाती हुई वे इस प्रकार शोभित हो रही थीं जिस प्रकार विकसित कमल वन के पराग से नदी सुशोभित होती है। उनका मस्तक आनत एवं नेत्र धरती की ओर निबद्ध होने पर भी ऐसी लग रही थीं मानो वे ईर्या समिति का पालन करती हैं और फिर निर्मल वस्त्रों से निर्मल और शील-वती हो गई हैं। (श्लोक ५४३-५५३)

कुछ सामन्त अक्षत जैसे मुक्ता भरे पात्र राजा के मंगल के लिए राजा के पास लाने लगे। महर्द्धिक देव जैसे इन्द्र के निकट आते हैं उसी भाँति परम ऋद्धि सम्पन्न कुछ सामन्त [illegible] रत्नों के अलंकार समूह लिए जितशत्रु राजा के पास जाने लगे। कुछ सामन्त मानो कदली तन्तु से अथवा कमलनाल के तन्तुओं से बुने हों ऐसे महामूल्य वस्त्र लेकर राजा के निकट गए। कुछ सामन्तों ने जृम्भक देवताओं द्वारा बरसायी वसुधारा-सी सुवर्णराशि राजा को उपहार में दी। कुछ सामन्तों ने दिग्गजों के युवराजा हों ऐसे शौर्यसम्पन्न मदमत्त हस्ती राजा को भेंट किए और कुछ उच्चैश्रवा के बन्धु-से या सूर्याश्वों के अनुज हों ऐसे उत्तम अश्व राजा को अर्पण किए। हर्ष भरे हृदय की तरह यद्यपि राजमहल का चौरास्ता बहुत विशाल था फिर भी अनेक राजाओं द्वारा उपहार स्वरूप वाहनों के कारण छोटा लगने लगा। राजा ने सबको प्रसन्न रखने के लिए सबके उपहार ग्रहण किए अन्यथा जिसका पुत्र देवाधिदेव है भला उसके घर कैसा अभाव ? (श्लोक ५५४-५६२)

राजा के आदेश से स्थान-स्थान पर देवताओं के विमान जैसे मंच प्रस्तुत किए गए। प्रत्येक गृह और अट्टालिकाओं पर रत्नों के वासनों के तोरण बाँधे गए। ऐसा लग रहा था मानो आगत देवताओं को चौंकाने के लिए ज्योतिष्क देवता वहाँ स्थित हुए हैं। प्रत्येक पथ पर धूल न उड़े इसलिए केशर-जल बरसाया गया था। वह ऐसा लग रहा था मानो भूमि पर मङ्गल सूचक विलेपन किया गया है। नगर के स्थान-स्थान पर नाटक, संगीत और वाद्य ध्वनि सुनी जाने लगी। राजा ने दस दिनों के लिए

नगर कर और दण्ड स्थगित कर दिया और सैनिकों का आगमन निरुद्ध कर उस उत्सव को सम्पन्न किया। (श्लोक ५६३-५६७)

तदुपरान्त राजा ने अपने पुत्र तथा भ्रातृ पुत्र के नामकरण का उत्सव करने की आज्ञा सेवकों को प्रदान की। उन्होंने मोटे और अनेक तहदार वस्त्रों से एक मण्डप निर्मित करवाया। ऐसा लग रहा था मानो वह राज भय से सूर्य किरण को अन्दर जाने से रोक रहा था। उसके प्रत्येक स्तम्भ के निकट अनेक कदली स्तम्भ शोभित हो रहे थे। वे मानो पुष्प कलियों से आकाश में पद्मवन को विस्तारित कर रहे हैं ऐसे लग रहे थे। वहाँ विचित्र पुष्पों से पुष्पसगृह निर्मित किया गया। ऐसा लग रहा था मानो आरक्त मधुकरी की भांति लक्ष्मी ने वहां आश्रय लिया है। हंस पालकों से गुम्फित और रुई भरे काष्ठासनों से वह मण्डप नक्षत्रों भरे आकाश-सा सनाथ प्रतीत हो रहा था। जिस प्रकार अभियोगिक देव इन्द्र के विमान का निर्माण करते हैं उसी प्रकार सेवकों ने उसी मुहूर्त में राजा का मण्डप तैयार कर दिया। फिर मङ्गल द्रव्य हाथों में लिए आनन्दमना स्त्री-पुरुष जब वहाँ आए छड़ीदार उन्हें यथा स्थान बैठाने लगे और अधिकारीगण कुंकुम के अङ्गराग से ताम्बूल और पुष्पमालाओं से स्व-बन्धु की तरह उनका सम्मान करने लगे। उसी समय मधुर स्वर में मङ्गल वाद्य बजने लगे। कुलीन स्त्रियाँ मङ्गल गीत गाने लगीं। ब्राह्मण पवित्र मन्त्रोच्चारण करने लगे और गन्धर्वादि 'वर्द्धित हो, वर्द्धित हो' कहते हुए गीत गाने लगे। चारण-भाटों ने बिना ताल के जय-जय शब्द किया। उनकी उच्च प्रतिध्वनि ऐसी लग रही थी मानो सारा मन्डप ही वार्तालाप कर रहा है। जब से यह बालक गर्भ में आया तब से उसकी माँ को पासों के खेल में मैं हरा न सका इसीलिए राजा ने उसका नाम अजित रखा और अपने भ्रातृपुत्र का सगर ऐसा पवित्र नाम रखा। अनेक उत्तम लक्षणों से शोभान्वित पृथ्वी के उद्धार करने की शक्ति धारण करने वाले मानो दोनों राजा की दो भुजाएँ हैं ऐसे दोनों कुमारों को देखकर राजा अखण्ड आनन्द को प्राप्त हुए, मानो वे अमृत पान में निमग्न हो गए हैं। (श्लोक ५६८-५८१)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

इन्द्र की आज्ञा से आगत पाँचों धात्रियाँ प्रभु का एवं राजा की आज्ञा से आगत धात्रियाँ सगर कुमार का लालन-पालन करने लगीं। इन्द्र ने अजित प्रभु के हस्त कमल के अंगूठे में अमृत का संचार कर दिया था। अतः वे उसी का पान करने लगे कारण तीर्थंकर स्तन-पान नहीं करते। (श्लोक १-२)

उपवन के वृक्ष जिस प्रकार नहर के जल का पान करते हैं उसी प्रकार सगर कुमार धात्रियों के अनिन्दित स्तन पान करने लगे। वृक्षों की दो शाखाओं की तरह या हस्तियों के दो दाँतों की तरह दोनों राजकुमार प्रतिदिन बढ़ने लगे। पर्वत पर जिस प्रकार सिंह शावक आरोहण करता है उसी प्रकार दोनों राजकुमार बड़े होकर राजा की गोद में चढ़ने लगे। उनकी मनोमुग्ध कारी हँसी से माता-पिता आनन्दित होते और उनके वीरत्व प्रदर्शक आचरण पर आश्चर्य चकित होते। केशरी सिंह शावक जिस प्रकार पिंजड़े में बन्द नहीं रहते उसी प्रकार उन दोनों राजकुमारों को धात्रियों के बार-बार पकड़ कर गोद में बैठाने पर भी वे दोनों बार-बार भाग जाते। वे स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर दौड़ते, धात्रियाँ उनके पीछे दौड़तीं और क्लान्त हो जातीं। कारण, महात्माओं के वय की बात गौण होती हैं। वेग में वायु को भी परास्त करने वाले वे दोनों राजकुमार खेलने के लिए तोते मयूर आदि पक्षियों को पकड़ लेते। उत्तम जातीय हस्ती शावकों की तरह स्वच्छन्दतापूर्वक चलते-फिरते वे नवीन-नवीन चातुर्य से धात्रियों को विमूढ़ कर देते। उनके चरण कमलों में पहने अलङ्कारों के छुम-छुम शब्द करने घुंघरु भ्रमर की तरह शोभित होते थे। उनके गले से छाती तक लटकती स्वर्ण और रत्नों की लड़ियाँ आकाश में चमकती विद्युत-सी शोभान्वित होती, स्वेच्छा से क्रीड़ारत कुमारों के कानों में पहने सुन्दर सुवर्ण कुण्डल जल में संक्रमण करने वाले सूर्य विलास को प्रकट करते। चलने के समय हिलती उनके माथे की शिखा शिशु मयूर के नृत्य की शोभा को धारण करती। उत्ताल तरंग जिस प्रकार राजहंस को एक पद्म से दूसरे पद्म पर ले जाती है उसी प्रकार राजा उन्हें एक गोद से दूसरी गोद में ले जाते। जितशत्रु राजा रत्न अलङ्कारों की

तरह उन दोनों कुमारों को कभी गोद में, कभी वक्ष पर, कभी कन्धे पर, कभी माथे पर बैठाते। भ्रमर जिस प्रकार पद्म की सुगन्ध लेता है उसी प्रकार प्रीतिवश वे उनके मस्तकों को सूँघते और तृप्त होते। राजा की अंगुली पकड़ कर उनके दोनों ओर चलने वाले वे राजकुमार मेरु पर्वत के दोनों ओर संक्रमण करने वाले दो सूर्यों से प्रतीत होते थे। योगी जिस प्रकार आत्मा-परमात्मा का ध्यान करते हैं उसी प्रकार राजा जितशत्रु परम आनन्द में कुमारों का ध्यान करते। स्वगृह में जन्म लेने वाले कल्पवृक्ष की तरह वे बार-बार उनको देखते और चतुर शुक की भाँति बार-बार उनका नाम लेकर पुकारते। राजा के आनन्द और इक्ष्वाकु वंश की लक्ष्मी के साथ-साथ वे दोनों राजकुमार वृद्धि को प्राप्त होने लगे। (श्लोक ३-२१)

महात्मा अजित कुमार ने समस्त कला, न्याय, शब्द शास्त्र आदि को अपने आप ही अधिगत कर लिया। कारण जिनेश्वर जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारक होते हैं। (श्लोक २२)

शुभ मुहूर्त देखकर उत्सव पूर्वक सगर कुमार को राजाज्ञा से उपाध्याय के पास पढ़ने के लिए भेजा गया। समुद्र जिस प्रकार नदियों का पान करता है उसी प्रकार सगर कुमार ने अल्प दिनों में ही शब्दशास्त्र का पान कर डाला। प्रदीप जिस प्रकार अन्य प्रदीप से ज्योति ग्रहण करता है उसी प्रकार सुमित्रापुत्र सगर ने उपाध्याय से अनायास ही साहित्यशास्त्र का ज्ञान अर्जन कर लिया। साहित्य रूपी लता के पुष्प की तरह और कानों के लिए रसायन तुल्य स्वरचित नवीन काव्यों द्वारा वीतराग प्रभु का स्तव कर उन्होंने अपनी वाणी को कृतार्थ किया। बुद्धि-प्रतिभा के समुद्र की तरह प्रमाणशास्त्रों को उन्होंने खनन द्वारा प्राप्त सम्पत्ति की तरह उसी मुहूर्त में प्राप्त कर लिया। जितशत्रु राजा ने जिस प्रकार अमोघ शरों से शत्रुओं को जय कर लिया था उसी प्रकार सगर कुमार ने भी स्याद्वाद् सिद्धान्त के समस्त प्रतिवादियों को जीत लिया था। छः गुण और चार उपाय और तीन शक्तियाँ इत्यादि प्रयोग रूपी तरंग से आकुल और दुर्गाह अर्थशास्त्र रूपी वृहद् समुद्र में उन्होंने अवगाहन किया। औषध, रस, वीर्य और उसके विपाक के ज्ञान से सम्बन्धित ज्ञानदीप तुल्य अष्टांग आयुर्वेद का उन्होंने बिना कष्ट के अध्ययन कर

लिया। चार रूप से बजाया गया चार प्रकार की वृत्ति से सम्पन्न चार तरह के अभिनय से युक्त और तीन प्रकार के तूर्यज्ञान का निदान रूप वाद्यशास्त्र उन्होंने ग्रहण कर लिया। दन्तघात, मदावस्था, अङ्गलक्षण और चिकित्सा में पूर्ण ऐसा गज-लक्षण उन्होंने बिना उपदेश के ही ग्रहण कर लिया। वाहन विधि और चिकित्सा सहित अश्वलक्षणशास्त्र को उन्होंने अनुभव और पाठ से हृदयंगम कर लिया। धनुर्वेद और अन्य शास्त्रलक्षण भी केवल सुनने मात्र से खेल ही खेल में स्वनाम की तरह हृदय में धारण कर लिया। धनुष, फलक, असि, छूरी, शल्य, परशु, बर्शा, भिन्दीपाल, गदा, कंपन, दंड, शक्ति, शूल, हल, मूसल, यष्ठि, पट्टिस, दुम्फोट, भुसंढी, गोफण, कणय, त्रिशूल, शंकु आदि अन्य शास्त्रों से सगर कुमार शास्त्र के अनुमान सहित युद्ध-विद्या में निपुण हो गए। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह वे समस्त कलाओं में कुशल और अलङ्कार की तरह विनयादि गुणों से शोभित हो गए। (श्लोक २४-३८)

श्री अजितनाथ प्रभु की भक्ति सम्पन्न इन्द्रादि देवता आकर समय-समय पर की सेवा करने लगे। कुछ देव अजितनाथ प्रभु की लीला देखने के लिए उनके समवयस्क बनकर उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। प्रभु की वाणीरूप अमृत रस का पान करने की इच्छा से कुछ देव विचित्र नम्र उक्तियों से, आदर वचनों से उनके साथ बात-चीत करते। आज्ञा नहीं देने वाले प्रभु की आज्ञा पाने के उद्देश्य से क्रीड़ाद्यूत में बाजी लगाकर प्रभु के आदेश से कुछ देवता अपना धन हार जाते, कुछ देव उनके छड़ीदार बनते, कुछ मन्त्री कुछ उगाहनधारी और कुछ क्रीड़ारत प्रभु के समीप अस्त्रधारी होकर रहते। सगरकुमार ने भी शास्त्र अध्ययन कर सेवक की तरह अपनी सेवाएँ उन्हें अर्पित कीं। उत्कृष्ट बुद्धि सम्पन्न सगर उन सभी संशयों को जिन्हें उपाध्याय दूर नहीं कर पाते अजितनाथ प्रभु से जिज्ञासा करते। भरत चक्रवर्ती भी इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव से जिज्ञासा कर अपना संशय दूर करते थे। अजितकुमार मति, श्रुत और अवधि ज्ञान से सगर का सन्देह, सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देता है, उसी प्रकार दूर कर देते। तीन प्रयत्नों से दमन और आसन सुदृढ़ कर स्वबल से मदमत्त हाथी को वशीभूत कर सगर प्रभु को अपनी शक्ति का परिचय देते। वाहन रूप में नियुक्त और अनियुक्त अश्व को वे पांच चालों से प्रभु के सम्मुख चलाते। वे

तीर से राधावेध, शब्दवेध, जल के भीतर रखा लक्ष्य वेध और चक्रवेध कर प्रभु को अपनी शर-विद्या की निपुणता का परिचय देते। ढाल और तलवार धारण कर वे आकाश के मध्य मार्ग स्थित चन्द्रमा की तरह फलक में अर्थात् रंगभूमि में प्रवेश कर अपनी पादगति अर्थात् असिविद्या की निपुणता दिखाते। वे आकाश में चमकती विद्युत रेखा का भ्रम उत्पन्न करने वाली बर्शा, शक्ति व शर्बला को अत्यन्त वेग से घुमाते। नर्तक जिस प्रकार नृत्य दिखाता है उसी प्रकार सर्व विषयों में निपुण सगर विभिन्न प्रकार से छुरी चलाना दिखाते। इसी प्रकार अन्य अस्त्रों के व्यवहार चातुर्य, गुरु-भक्ति से या उपदेश ग्रहण करने के लिए अजित स्वामी को दिखाते। अजित स्वामी सगर को उसी-उसी विषय का उपदेश देते जिनका उनमें अभाव था। इस भांति उत्तम पुरुष के शिक्षक भी उत्तम होते हैं। इसी तरह दोनों कुमारों ने स्व-योग्य क्रीड़ा कौतुक करते हुए पथिक जिस प्रकार गांव की सीमा का अतिक्रमण करता है उन्होंने अपने बाल्यकाल का अतिक्रमण किया। (श्लोक ३९-५६)

समचतुस्र संस्थान और वज्रऋषभ नाराच संहनन से सु-शोभित, स्वर्ण-सी कान्ति से सम्पन्न साढ़े चार सौ धनुष दीर्घ, श्रीवत्स चिह्न से जिनका वक्ष अलंकृत है और सुन्दर मुकुट धारण किए हैं ऐसे दोनों कुमार चन्द्र जिस प्रकार कान्तिवर्द्धनकारी शरद् ऋतु को प्राप्त होता है उसी प्रकार शरीर की सम्पत्ति को बढ़ाने वाली यौवनावस्था को प्राप्त हुए। यमुना नदी की तरंगों के समान कुटिल और श्याम केशदाम एवं अष्टमी के चन्द्र-से ललाट से वे विशेष सुशोभित होने लगे। उनके दोनों कपोल इस प्रकार शोभान्वित होते मानो वे दोनों स्वर्ण-दर्पण हों। उनके स्निग्ध और मधुर नेत्र नील-कमल के पत्र की तरह झलमल करते। उनकी सुन्दर नासिका, दृष्टि रूपी दो सरोवरों के मध्य पाल के समान परिदृष्ट होने लगी। उनके युग्म ओष्ठ इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो युग्म बिम्बफल हों। उनके सुन्दर आवर्तयुक्त दोनों कान शुक्ति की तरह मनोहर लगने लगे। तीस रेखाओं से पवित्र कण्ठरूपी कंदल पंख की तरह सुशोभित होने लगे। हस्ती के कुम्भ स्थलों की तरह उनके उन्नत स्कन्ध थे। दीर्घ और परिपुष्ट बाहु सर्पराज-सी प्रतीत होने लगी। वक्षस्थल स्वर्ण पर्वत की शिला की तरह मनोहर हो हो गए। नाभि मन की तरह गम्भीर लगने लगी। कटिदेश वज्र

के निम्न भाग की तरह कृश था और वृहद् हस्ती-सूंड की तरह उनकी जांघें सरल और कोमल थीं। मृगपदों की तरह उनके पैरों के निम्न भाग सुशोभित हो रहे थे। उनके पैरों के पंजे सरल और अंगुली रूपी पत्र से स्थल-कमल का अनुसरण करते थे। स्वभाव से सुन्दर दोनों राजकुमार यौवन प्राप्ति से उसी भांति अधिक सुन्दर लगने लगे जिस प्रकार स्त्रीजन-प्रिय उद्यान वसन्त ऋतु में अधिक सुन्दर लगने लगता है। अपने रूप और पराक्रमादि गुणों से सगर कुमार देवताओं के मध्य इन्द्र की तरह समस्त मनुष्यों में उच्च स्थान को प्राप्त थे। समस्त पर्वतों में जिस प्रकार मेरुपर्वत अधिकता प्राप्त है उसी प्रकार देवलोकवासी, ग्रैवेयकवासी और अनुत्तर विमान वासी देवताओं के मध्य आहारक शरीर होने पर भी अजित स्वामी अपने रूप के लिए अधिकता प्राप्त थे अर्थात् सबसे अधिक सुन्दर थे।

(श्लोक ५७-७१)

एक दिन जितशत्रु राजा और इन्द्र ने रागरहित अजितनाथ स्वामी को विवाह के लिए कहा। उन्होंने आग्रह और स्व-भोगफल के लिए उनकी बात स्वीकार की। जितशत्रु राजा ने मानो लक्ष्मी की प्रतिमूर्त्ति हों ऐसी सौ से भी अधिक राजकन्याओं के साथ अजितनाथ स्वामी का खूब धूमधाम से विवाह कर दिया। पुत्र-विवाह से अतृप्त राजा ने सगर कुमार का विवाह भी देवकन्या तुल्य अनेक राजकुमारियों के साथ कर दिया। इन्द्रियों द्वारा अपराजित अजितनाथ स्वामी निज भोग कर्मों का विनाश करने के लिए रमाओं के साथ रमण करने लगे। कारण, जैसा रोग होता है औषधि भी वैसी ही दी जाती है। हस्तिनियों के साथ हस्ती जिस प्रकार क्रीड़ा करता है सगर कुमार भी उसी प्रकार स्वपत्नियों के साथ विभिन्न क्रीड़ा-स्थलों में विभिन्न क्रीड़ा करने लगे।

(श्लोक ७२-७७)

एक दिन अनुज सहित संसार विरक्त राजा जितशत्रु अठारह पूर्व लक्ष वर्ष की आयु सम्पन्न अपने पुत्रों से बोले—हे पुत्रो, हमारे पूर्व पुरुष दीर्घकाल तक विधि सहित पृथ्वी का पालन कर उसे पुत्रों के हाथों सौंपकर मोक्ष के साधन रूप व्रतों को ग्रहण कर लेते थे। कारण, मुक्ति की साधना ही स्वकार्य है, अन्य समस्त कार्य तो अन्यों के लिए होते हैं। इसलिए हे कुमारो, अब हम व्रत ग्रहण करेंगे। यही हमारे कार्यों का हेतु है अर्थात् जीवन का उद्देश्य

है और वंश-परम्परा है। हमारा भी अब यही मत है कि तुम दोनों इस राज्य के राजा और युवराज बनो और हमें प्रव्रजित होने की आज्ञा दो। (श्लोक ७८-८२)

अजितनाथ बोले—पिताजी, यह आपके योग्य ही है। भोग कर्म रूप विघ्न यदि नहीं होता तो मेरे लिए भी व्रत ग्रहण उचित था। विवेकी पुरुष किसी के भी व्रत ग्रहण करने में बाधक नहीं बनते तब समयानुसार कर्म करने वाले पूज्य पिताजी के लिए मैं कैसे बाधक बन सकता हूं? जो पुत्र भक्तिवश पिता के चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष साधना में विघ्नकारी बनते हैं उन पुत्रों को पुत्र रूप में शत्रु उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानना होगा। फिर भी मैं यह प्रार्थना करता हूं कि मेरे छोटे पिताजी (चाचा) सिंहासन पर बैठें। कारण, आपके ये विनयी अनुज हमसे भी अधिक हैं।

(श्लोक ८३-८६)

यह सुनकर सुमित्र बोले—राज्य लेने के लिए मैं स्वामी का परित्याग नहीं करूंगा क्योंकि अल्प लाभ के लिए अधिक लाभ को कौन छोड़ता है? विद्वान् राज्य, साम्राज्य, चक्रवर्तीत्व एवं देवत्व से भी गुरु-सेवा को अधिक मानते हैं। (श्लोक ८७-८८)

अजित कुमार बोले—आप यदि राज्य नहीं लेना चाहते हैं तो हम लोगों के प्रेम के लिए भावयति बनकर घर में रहें।

(श्लोक ८९)

उसी समय राजा बोले—हे भाई, तुम पुत्रों का आग्रह सुनो। कारण, जो भाव से साधु है वही साधु होता है। फिर यह तो साक्षात् तीर्थङ्कर हैं, इसके तीर्थ में तुम्हारी इच्छा सफल होगी। अतः हे भाई, तुम इसके तीर्थङ्करत्व की प्रतीक्षा करो और यहीं रहो, शीघ्रता मत करो। एक पुत्र को तीर्थङ्कर और दूसरे को चक्रवर्ती पद प्राप्त होते देख सुख से भी अधिक सुख प्राप्त होगा।

(श्लोक ९०-९२)

यद्यपि सुमित्र दीक्षा लेने को बहुत उत्सुक थे फिर भी अग्रज की बात उन्होंने स्वीकार कर ली। कारण, समुद्र मर्यादा की तरह गुरु-आज्ञा सत्पुरुषों के लिए अलंघ्य है। अर्थात् जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करता उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुष भी गुरुजनों की आज्ञा का लंघन नहीं करते। (श्लोक ९३)

प्रसन्नचित्त राजा जितशत्रु ने खूब धूमधामपूर्वक स्व हाथों से

अजित स्वामी का राज्याभिषेक किया। उनके राज्याभिषेक से समस्त पृथ्वी प्रसन्न हुई। विश्व की रक्षा करने में जो समर्थ हैं उनका नेतृत्व पाकर कौन आनन्दित नहीं होता? फिर अजित स्वामी ने सगर को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। इससे अपने भाई के प्रति प्रीति सम्पन्न अजित स्वामी ऐसे लगने लगे मानो वहाँ उन्होंने स्वयं ही अन्य मूर्त्ति स्थापित की हो। (श्लोक ९४-९६)

अजितनाथ ने बड़ी धूमधाम से पिता का निष्क्रमणोत्सव मनाया। उन्होंने ऋषभ स्वामी के तीर्थ में वर्तमान स्थविर महाराज से मुक्ति की माता रूप दीक्षा ग्रहण की। बाह्य शत्रु की तरह अन्तर शत्रु को जीतने वाले उन राजर्षि ने राज्य की तरह ही व्रतों का पालन किया। अनुक्रम से केवलज्ञान उत्पन्न होने पर शैलेशी ध्यान में स्थित उन महात्मा ने अष्ट कर्मों को विनष्ट कर परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया। (श्लोक ९७-१००)

इधर अजितनाथ स्वामी सर्वप्रकार की ऋद्धि सहित सहज भाव से सन्तान तुल्य पृथ्वी का पालन करने लगे। वे दण्डादि के बिना ही सबकी रक्षा करते थे। इससे जिस प्रकार उत्तम सारथी से चालित अश्व पथ पर सरल गति से चलता है उसी प्रकार प्रजा भी सन्मार्ग पर चलने लगी। प्रजा रूपी मयूरी के लिए मेघ तुल्य और उसका मनोरथ पूर्ण करने में कल्पवृक्ष तुल्य अजितनाथ महाराज के राज्य में चूर्ण शष्यादि के, बन्धन पशुओं के, वेध मणियों के, ताड़न वाद्य पर, सन्ताप स्वर्ण को, तप्त शस्त्र ही होते। इस प्रकार उत्खनन शालिधान्य का, वक्रता स्त्रियों की, भौंहों में, मार शब्द का प्रयोग द्यूत क्रीड़ा में, विदारण शष्य क्षेत्र का, कैद पिंजड़े के पक्षियों को, निग्रह रोग का, जड़-दशा कमल की, दहन अगरु का, घर्षण चन्दन का एवं मन्थन दही का ही होता। पीसा भी इक्षु ही जाता था। मधुपान भ्रमर ही करता, मतवाला हाथी ही होता। कलह होता स्नेह प्राप्ति के लिए, भय निन्दा का, लोभ गुण का और अक्षमा दोष के लिए ही प्रयुक्त होती। अभिमानी राजगण भी स्वयं को सेवक समझकर अजितनाथ स्वामी की सेवा करते। कारण, अन्य सभी मणियां चिन्तामणि के सम्मुख दासी रूप में ही अवस्थित होती हैं। वे दण्ड नीति का प्रयोग नहीं करते। इतना ही नहीं वे कभी भ्रू भी वक्र नहीं करते। इतना होने पर भी समस्त प्रजा भाग्यवान व्यक्ति की पत्नी की तरह उनके वशीभूत थी। सूर्य

जैसे स्व-किरणों से सरोवर के जल को आकृष्ट करता है उसी प्रकार स्व-प्रताप से वे राजाओं की लक्ष्मी को आकृष्ट करते थे। उनका गृहांगन राजाओं द्वारा प्रदत्त हाथियों के मद-जल से सर्वदा पंकिल रहता। उन महाराज के चतुरतापूर्वक संक्रमणकारी अश्वों का वाह्याली की तरह सब दिशाओं में प्रवेश होता। अर्थात् उनके अश्व सरलता से सर्वदिशाओं में जा सकते थे। कारण, सब दिशाओं में रहने वाले उनके अधीन थे। समुद्र की तरंग को जिस प्रकार कोई नहीं गिन सकता उसी प्रकार उनके रथ और पैदल सैनिकों की गणना कोई नहीं कर सकता था। गजारोही, अश्वारोही, रथी और पदातिक अपने भुजबल से सुशोभित उन महाराज के लिए केवल साधन मात्र ही तो थे। उनके पास इतना ऐश्वर्य होते हुए भी उन्हें जरा भी अभिमान नहीं था। अतुल भुजबल होते हुए भी गर्व उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाया था। रूप सम्पन्न होने पर भी वे स्वयं को रूपवान नहीं समझते थे। विपुल लाभ भी उन्हें उन्मादी नहीं बना सका था। दूसरों को उन्मादी बनाने पर भी उनके मन में जरा भी घमण्ड नहीं था। वे इन सब चीजों को अनित्य मानते थे। अतः उन्हें तृणवत् समझते। इस प्रकार राज्य करते हुए अजितनाथ महाराज कुमारावस्था से प्रारम्भ कर त्रेपन लक्ष पूर्व समय सुखपूर्वक व्यतीत किया। (श्लोक १०१-१२०)

एक बार सभा विसर्जन कर तीन ज्ञान के धारी अजितनाथ स्वामी एकान्त में बैठकर विचार करने लगे। आज तक मैंने भोग-फल का भोग किया अब और गृह में रहकर स्वकार्य से विमुख होना उचित नहीं है। कारण, मुझे इस देश की रक्षा करनी होगी। इस नगर को देखना होगा, ग्राम बसाना होगा, मुझे इनका पालन करना होगा, हस्तियों की संख्या में अभिवृद्धि करनी होगी, अश्वों को देखना होगा, इन सेवकों का भरण-पोषण करना होगा, याचकों को सन्तुष्ट करना होगा, शरणागतों की रक्षा करनी पड़ेगी, पंडितों का सम्मान करना होगा, मित्रों का सत्कार करना होगा, इन मन्त्रियों के प्रति अनुग्रह दिखाना होगा, शत्रुओं का उद्धार करना होगा, स्त्रियों को प्रसन्न करना होगा, पुत्रों का लालन-पालन करना होगा—इस भाँति पर कार्य में लग्न होकर प्राणी मनुष्य जीवन व्यर्थ ही नष्ट करता है। ऐसे कार्यों में जो निरत रहता है वह युक्त-अयुक्त का विचार नहीं करता। मूर्खतावश अनेक प्रकार के पाप

कार्य करता है। मोह-बद्ध मानव जब मृत्युपथ पर अग्रसर होता है उस समय जिनके लिए वह पाप कर्म करता है वे कोई भी उसके सहायक नहीं बनते। वे सब यहीं रह जाते हैं। उनकी बात तो दूर यह शरीर भी उनके साथ नहीं जाता। हाय, फिर भी आत्मा इस कृतघ्न देह के लिए व्यर्थ ही पाप कर्म करते हैं। इस संसार में प्राणी अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है एवं बद्ध कर्मफल को भी अकेला ही भोगता है। वह पाप कर्म कर जिस द्रव्य का उपार्जन करता है उसे उसके आत्मीय स्वजन मिलकर भोग करते हैं और वह अकेला नरक में जाकर पाप कर्म का दुःख भोगता है। दुःख रूपी दावानल से भयंकर संसार रूपी महावन में वह कर्म के वशीभूत होकर अकेला ही विचरण करता है। संसार सम्बन्धित दुःख से मुक्ति पाने पर जो सुख होता है उस सुख को भी वह अकेला ही भोगता है। उसमें भी कोई उसका हिस्सेदार नहीं होता। समुद्र में गिरा प्राणी स्व हाथ-पाँव, बुद्धि और मन को काम में न लाए तो जिस प्रकार वह समुद्र में डूब जाता है और जो काम में लाता है वह पार हो जाता है। उसी प्रकार धन देहादि परिग्रह से विमुख होकर जो उनका सद् व्यवहार करता है और निज आत्मरूप में लीन होता है वही संसार समुद्र को पार करता है। (श्लोक १२१-१३७)

संसार से जिसका मन उदास हो गया है ऐसे अजितनाथ प्रभु को इस भाँति चिन्ता करते देखकर सारश्वतादि लोकान्तिक देव उनके निकट आकर कहने लगे— हे भगवन्, आप स्वयबुद्ध हैं। अतः हम आपको बोध देने में समर्थ नहीं हैं। फिर भी आपसे यही निवेदन करना चाहते हैं कि अब आप धर्म तीर्थ की प्रवर्तना करें।

(श्लोक १३८-१३९)

इस प्रकार विनती और प्रभु चरणों में वन्दना कर वे इस प्रकार ब्रह्मलोक को लौट गए जिस प्रकार सन्ध्या को पक्षी नीड़ों में लौट जाते हैं। अपने विचारों के अनुकूल देवताओं के वचन सुनकर उनका वैराग्य इस प्रकार बढ़ने लगा जैसे पूर्वी हवा से मेघ बढ़ने लगता है। (श्लोक १४०-१४१)

उन्होंने उसी क्षण सगर कुमार को बुलवाया और बोले— मेरी इच्छा अब इस संसार सागर को उत्तीर्ण करने की है। अतः तुम यह राज्य भार ग्रहण करो। (श्लोक १४२)

प्रभु का ऐसा आदेश सुनकर सगरकुमार का मुख काला हो गया। बूंद-बूंद बरसाते मेघ की तरह उनकी आंखों से अश्रु गिरने लगे। वे करबद्ध होकर बोले—हे देव, मैंने ऐसी कौन-सी अभक्ति की है कि आप मुझे अपने से वियुक्त होने का आदेश दे रहे हैं? यदि कोई अपराध हो भी गया हो तो आपका मुझसे अप्रसन्न होना उचित नहीं है। क्योंकि पूज्य अपने अभक्त शिशु को दण्ड देते हैं उसका परित्याग नहीं करते। हे प्रभु, आकाश की तरह ऊंचा; किन्तु छायाहीन वृक्ष की तरह, आकाश में उत्पन्न; किन्तु वारि-वर्षणहीन मेघ की तरह, निर्झररहित वृहद् पर्वत की तरह, सुन्दर आकृति सम्पन्न; किन्तु लावण्यहीन शरीर की तरह विकसित किन्तु सुगन्धहीन पुष्प की तरह आपको छोड़कर इस राज्य से मेरा क्या प्रयोजन है? हे प्रभु, आप निर्मम निःस्पृह मुमुक्षु हैं फिर भी मैं आपके चरणों की सेवा का त्याग नहीं करूंगा, राज्य ग्रहण करना तो बहुत दूर की बात है। मैं राज्य, पुत्र, कलत्र, मित्र और समस्त परिवार का परित्याग कर सकता हूं; किन्तु आपके चरणों की सेवा का त्याग नहीं कर सकता। हे नाथ, जब आप राजा बने तब मैं युवराज बना। उसी प्रकार जब आप व्रतधारी बनेंगे तो मैं आपका शिष्य बनूंगा। दिन-रात गुरु-चरणों की सेवा करने वाले शिष्य के लिए भिक्षा मांगना साम्राज्य के सुख से भी अधिक सुखकर है। अज्ञानी होने पर भी जिस प्रकार गोप-बालक गाय की पूंछ पकड़ कर नदी पार होता है उसी प्रकार मैं भी आपके चरण-कमलों का आश्रय लेकर संसार सागर का अतिक्रम करूंगा। मैं भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करूंगा, आपके साथ प्रव्रजन करूंगा। आपके साथ दुःसह परिषह सहन करूंगा और आपके साथ उपसर्ग सहूंगा; किन्तु यहां किसी भी प्रकार नहीं रहूंगा। इसलिए हे जगद्गुरु, आप प्रसन्न हों। (श्लोक १४३-१५५)

इस प्रकार सेवा करने की जिसने प्रतिज्ञा ली है ऐसे सगर कुमार को अजितनाथ स्वामी अमृत समान मधुर स्वर में बोले—हे वत्स, संयम ग्रहण करने का तुम्हारा यह आग्रह उचित है; किन्तु अभी तुम्हारा भोग कर्मफल क्षय नहीं हुआ है। अतः तुम भी मेरी तरह भोगावली को भोगकर योग्य समय मोक्ष साधक व्रत ग्रहण करना। हे युवराज, क्रम आगत इस राज्य को तुम स्वीकार करो और मैं संयम रूपी साम्राज्य को ग्रहण करता हूं। (श्लोक १५६-१५९)

प्रभु की यह बात सुनकर सगरकुमार मन ही मन चिन्ता करने लगे—एक ओर प्रभु-वियोग का भय है, दूसरी ओर आज्ञाभंग का भय पीड़ा पहुंचा रहा है। स्वामी का विरह और उनकी आज्ञा पालन न करना मेरे लिए तो दोनों ही दुःखप्रद हैं। फिर भी विचार करने पर लगता है कि स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही श्रेष्ठ है। अतः सगरकुमार गद्गद् कण्ठस्वर में बोले—प्रभो, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। (श्लोक १६०-१६२)

तब राजाओं में श्रेष्ठ अजित स्वामी महात्मा ने सगर के राज्याभिषेक के लिए तीर्थजलादि सामग्रियां लाने के लिए अनुचरों को आज्ञा दी। मानो छोटे-छोटे द्रह हों ऐसे कमल ढके कुम्भ स्नान करने योग्य तीर्थ जल से भरकर वे ले आए। जिस प्रकार राजागण उपहार लाते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठीगण अभिषेक के लिए अन्य द्रव्यादि तत्काल ले आए। तदुपरान्त मानो मूर्तिमान प्रताप ही हों ऐसे राजा लोग राज्याभिषेक करने के लिए वहां आए। अपने परामर्श से इन्द्र के मन्त्री को भी परास्त करने वाले मन्त्री, मानो दिक्पाल ही हों ऐसे सेनापति, हर्ष से जिनका हृदय भरा हो ऐसे बन्धु-बांधव वहां आए। मानो एक घर से आए हों ऐसे हस्ती, अश्व आदि के अध्यक्ष तत्काल वहां आए। उसी समय नाद में शिखर को भी गुंजित कर देने वाले शङ्ख बजने लगे, मेघ की तरह मृदंग बजने लगे। दुंदुभि और ढोल बजने लगे। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे प्रतिध्वनि से समस्त दिशाओं को मंगल शिक्षा देने वाले अध्यापक हों। समुद्र तरंग की तरह झांझ बजने लगी। झालर की झन-झन चारों दिशाओं में सुनाई पड़ने लगी। कितने वाद्य फूंक देकर बजाए जा रहे थे, कितने हाथों से हिलाकर बजाए जा रहे थे। गन्धर्वगण शुद्ध सुन्दर स्वर में गाना गा रहे थे। चारण, भाट, ब्राह्मण आदि आशीर्वाद दे रहे थे। इस भांति महोत्सव सहित अजित स्वामी की आज्ञा से कल्याणकारी पूर्वोक्त अधिकारीगणों ने विधि सहित राजा सगर का राज्याभिषेक किया फिर मांडलिक राजागण, मंत्रीगण और सामंतों ने करबद्ध होकर उदीयमान सूर्य-से राजा सगर को प्रणाम किया। नगर के मुख्य-मुख्य अधिवासी हाथों में उत्तम उपहार लेकर राजा सगर के निकट आए। उन्होंने नवीन चन्द्र-से राजा सगर के सम्मुख उपहारों को रखकर प्रणाम किया। प्रजा यही सोचकर प्रसन्न हुई कि स्वामी ने अपने प्रतिमूर्त्ति रूप सगर को

राज-सिंहासन पर बैठाया है, हमारा परित्याग नहीं किया है।

(श्लोक १६३-१७७)

जिस प्रकार वर्षा के मेघ वृष्टि करते रहते हैं उसी प्रकार अजितनाथ स्वामी ने दान देना प्रारम्भ कर दिया। उसी समय तिर्यंक, जृम्भक देव इन्द्र की आज्ञा एवं कुबेर की प्रेरणा से नष्ट, भ्रष्ट, स्वामीहीन, अचिह्नित, पर्वत गुफा स्थित, श्मशान से या अन्य किसी स्थान से गड़ा हुआ धन लाकर चौरास्ते में, चबूतरों पर, कोषशाला और यातायात के स्थान पर रखने लगे। अजित स्वामी ने नगर में ढोल बजवा कर प्रचारित करवा दिया, जो-जो धनप्रार्थी हैं वे आकर इच्छानुरूप धन ले जाएँ। फिर सूर्योदय से लेकर भोजन के समय तक अजित स्वामी दान देने लगे एवं जिसे जितना चाहिए उसे उतना दे देते। नित्य एक कोटि आठ लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ वे दान करते थे। इस प्रकार एक वर्ष में उन्होंने ८ कोटि ८० लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान दीं। काल का सामर्थ्य एवं प्रभु के प्रभाव से याचकों की इच्छानुसार धन दिया जाता था; किन्तु वे लोग प्रयोजन से अधिक धन नहीं लेते थे। अचिन्त्य महिमा सम्पन्न और दयारूपी धन से धनी प्रभु ने एक वर्ष पर्यन्त पृथ्वी को चिन्तामणि रत्न की तरह धन दान से तृप्त किया। (श्लोक १७८-१८८)

वार्षिक दान समाप्त होने पर इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। इससे उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा प्रभु का दीक्षा समय अवगत किया। वे भगवान् का निष्क्रमणोत्सव मनाने के लिए सामानिक देवों सहित प्रभु के पास जाने को रवाना हुए। उस समय ऐसा लगा जैसे इन्द्र ने चलते हुए विमान से दिक्-समूहों में मण्डप की रचना की हो, हस्तियों से मानो उड़ते हुए पर्वतों की रचना की हो, तुरंगों से आकाश में समुद्र तरंगों की सृष्टि की हो, अस्खलित गति सम्पन्न रथ से सूर्य-रथ को परास्त किया हो, घुंघरू युक्त माला पहिने दिग्गजों की कर्णताल का (कानों के हिलने से होने वाला शब्द) अनुकरण कर ध्वजा अंकुश आकाश को तिलकित कर रहे हों। कुछ देव गान्धार स्वर में उत्तम गीत गा रहे थे, कुछ देव नवीन रचित काव्यों से उनकी स्तुति कर रहे थे, कुछ देव मुख पर वस्त्र रखे बीच-बीच में उनसे बातचीत कर रहे थे एवं कुछ देव उन्हें पूर्व तीर्थङ्कर का चरित्र स्मरण करवा रहे थे। (श्लोक १८९-१९५)

इस भांति इन्द्र स्वामी के चरण-कमलों से पवित्र अयोध्या को स्वर्ग से भी अच्छा समझकर अल्प समय में ही वहां आ पहुंचे। उसी समय अन्य सुरेन्द्र और असुरेन्द्र भी प्रभु के दीक्षा-महोत्सव से अवगत होकर वहां आए। अच्युतादि सुरेन्द्र और सगर आदि नरेन्द्रों ने अनुक्रम से वहीं प्रभु का दीक्षा महोत्सव किया। तदुपरान्त मणिकार जैसे माणिक्य को परिष्कृत करता है उसी भांति इन्द्र ने देवदूष्य वस्त्र से प्रभु की स्नान-जल से सिक्त देह को पोंछा और गन्धकार की तरह स्व-हाथों से सुन्दर अंगराग से प्रभु के शरीर को चर्चित किया। धर्म भावना रूप धन से धनी इन्द्र ने प्रभु को देवदूष्य वस्त्र पहनाया। मुकुट, कुण्डल, हार, बाजुबन्द, कड़े आदि अनेक अलंकारों से उन्हें विभूषित किया। फूलों की दिव्य मालाओं से जिनके केश सुशोभित हैं, तृतीय नेत्र की तरह जिनके ललाट पर तिलक शोभित है, देवियां, दानवियाँ और मानवियां विचित्र भाषा में जिनके मधुर मङ्गलगीत गा रही हैं, चारण भाट की तरह सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र जिनकी स्तुति कर रहे हैं, सुवर्ण धूपदानी से व्यन्तर देव जिनके सम्मुख धूप कर रहे हैं, पद्मद्रह में हिमवन्त पर्वत की तरह जिनके मस्तक पर श्वेत छत्र सुशोभित हो रहा है, चामर-धारियां जिनके दोनों ओर चँवर डुला रही हैं, विनम्र छड़ीदार की तरह इन्द्र जिन्हें हाथों का सहारा दे रहे हैं, हर्ष और शोक से विमूढ बने सगर राजा अनुकूल पवन से बरसने वाली वर्षा की तरह अश्रु प्रवाहित करते जिनके पीछे चल रहे थे—ऐसे प्रभु स्थल कमल के समान चरणों से पृथ्वी को पवित्र करते हुए हजारों व्यक्तियों द्वारा उत्तेलित सुप्रभा नामक शिविका पर आरूढ़ हुए। उस शिविका को पहले मनुष्यों ने, बाद में विद्याधरों ने और अन्त में देवताओं ने उठाया। इससे वह आकाश मार्ग में भ्रमण करने वाले ग्रह का भ्रम उत्पन्न कर रही थी। ऊपर उठी हुई और जिसमें एक भी धक्का नहीं लग रहा हो ऐसी वह चलमान शिविका समुद्र में चलते हुए जहाज-सी शोभित हो रही थी। शिविका चलने पर उसके मध्य सिंहासन पर बैठे प्रभु पर ईशानेन्द्र और सौधर्मेन्द्र चँवर वीजन करने लगे। वर जिस प्रकार कन्या का पाणिग्रहण करने को उत्सुक होता है उसी भांति दीक्षा ग्रहण करने को उत्सुक प्रभु विनीता नगरी के मध्य मार्ग में चलने लगे। उस समय चलने के कारण जिनके कर्णाभरण हिल रहे थे, वक्षों के हार डुल रहे थे

ग्रौर वस्त्र सरसर कर रहे थे ऐसे शिविका उठाने वाले पुरुष चलमान कल्पवृक्षों की तरह लग रहे थे। (श्लोक १९६-२१४)

नगर-नारियां भी भक्ति से पवित्र मन लिए वहां प्रभु को देखने ग्रायीं। उनमें कोई-कोई ग्रपनी सहेलियों को पीछे छोड़ ग्राई थीं। किसी का वक्षलग्न हार टूटकर बिखर रहा था, किसी के स्कन्ध-से उत्तरीय खुलकर गिरा जा रहा था। कोई घर का दरवाजा बन्द किए बिना ही चली ग्राई थी तो कोई विदेशागत ग्रतिथि को बैठाकर ग्रा रही थी। कोई तत्काल जन्मे पुत्र के जन्मोत्सव का परित्याग कर ग्रा रही थी, कोई उसी समय के लग्न-मुहूर्त्त की उपेक्षा करती चली ग्रा रही थी। कोई स्नान करने जा रही थी; किन्तु स्नान न कर वह इधर ही चल पड़ी थी तो कोई भोजन करती हुई भोजन छोड़कर चली ग्रा रही थी। किसी के ग्राधे शरीर पर अंगराग लगा था तो किसी ने ग्राधे ग्रलङ्कार पहने ग्रौर ग्राधे वहीं छोड़कर चली ग्राई थी। कोई भगवान् के निष्क्रमण का संवाद सुनकर जैसी खड़ी थी वैसे ही दौड़ ग्राई। किसी के वेणी में ग्राधी माला गूंथी थी तो किसी के ललाट पर ग्राधा तिलक लगा था, कोई गृहकार्य ग्रधूरा छोड़कर ग्रा गई थी तो कोई नित्य कर्म बिना समाप्त किए ही ग्रा गई थी ग्रौर किसी का तो वाहन खड़ा था फिर भी पैदल ही चली ग्राई थी। यूथपति के चारों ग्रोर भीड़ लगाए हस्तियों की तरह नगरजन कभी प्रभु के ग्रागे तो कभी प्रभु के पीछे तो कभी दोनों ग्रोर ग्राकर खड़े हो रहे थे। कोई प्रभु को ग्रच्छी तरह देखने के लिए घर की छत पर चढ़ रही थी, कोई दीवार पर, तो कोई ग्रट्टालिका पर, कोई मञ्च के ग्रग्रभाग पर, कोई दुर्ग के कंगूरों पर चढ़ रही थी तो कोई वृक्षों पर, तो कोई हाथी के हौदों पर चढ़ी थीं। ग्रागत ग्रानन्दमना स्त्रियों में कोई उत्तरीय को चँवर कर वीजने लगीं, कोई मानो पृथ्वी में धर्म बीज वपन कर रही हों, इस प्रकार लाज से प्रभु को बधा रही थी। कोई ग्रग्नि की तरह सात शिखाग्रों युक्त ग्रारती करने लगीं, कोई मानो मूर्त्तिमान यश हो इस भांति के पूर्ण पात्र प्रभु के सम्मुख रखने लगी। कोई मङ्गल-विधान से पूर्ण कुम्भ धारण कर रही थी। कोई सान्ध्य-मेघ की तरह वस्त्रों से ग्राकाश को ग्रावृत कर रही थी। कोई नृत्य कर रही थी, कोई मङ्गल गीत गा रही थी, कोई प्रसन्नवदना सुन्दर हास्य कर रही थी। (श्लोक २१५-२३०)

उस समय मानो इधर-उधर दौड़ते हुए गरुड़ समूह-से विद्याधरों, देवताओं और असुरों से आकाश भर गया था। मानो आत्मा को धन्य कर रही हो ऐसे चौसठ इन्द्रों की नाट्य सेना स्वामी के चारों ओर नाटक करने लगी। राजा सगर के सेवक नृत्यरत देवताओं के साथ स्पर्द्धा करते हुए विचित्र पात्रों द्वारा स्थान-स्थान पर नाटक करने लगे और अयोध्या नगरी के मण्डन रूप गन्धर्व और रमणियां विश्व की दृष्टि को बांधने वाले क्रीड़ाएं दिखाने लगे। उस समय आकाश और पृथ्वी पर होते नाट्य संगीत से पृथ्वी और आकाश के मध्यवर्ती स्थान को भर डाले ऐसी महाध्वनि उत्पन्न हुई। उस भीड़ के मध्य राजा, सामन्त और श्रेष्टियों के गले के हारों के टूट जाने से धरती पर मुक्ता बिखर गए। इससे वह धरती मुक्ता के कंकरों से भर उठी। स्वर्ग और पृथ्वी के मदमस्त हस्तियों के मदजल से राजपथ पंकिल हो उठा। प्रभु के निकट उपस्थित सुर, असुर और मनुष्य से त्रिलोक एक अधिपति की सत्ता में होने से एक लोक-सा लगने लगा। (श्लोक २३१-२३८)

ज्ञानवान प्रभु यद्यपि निःस्पृह थे फिर भी लोक प्रसन्नता के लिए पद-पद पर उनके मङ्गलाचार स्वीकार कर रहे थे। इस भांति एक साथ चलते हुए देव और मनुष्यों पर वे समान कृपादृष्टि कर रहे थे। इस तरह सुर-असुर और मनुष्यों ने जिनका उत्सव किया वे प्रभु क्रम से सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पहुंचे। उस उद्यान के चारों ओर फूलों की सुगन्ध से उन्मत्त बने भ्रमर पंक्तियों से जिसका मध्य भाग दुःप्रवेश्य था ऐसे केतकी वृक्षों का बेड़ा लगाया हुआ था। मानो बेगार दे रहे हों इस भांति नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों के पुत्र खेलने की इच्छा से उस वन की लता और वृक्ष की मध्यवर्ती भूमि को परिष्कृत कर रहे थे। नगर की स्त्रियां क्रीड़ा करने आती और वहां के कुरुवक, बकुल, अशोक इत्यादि वृक्षों का दोहद पूर्ण करतीं। विद्याधर कुमार कौतुकवश पथिकों की तरह झरने का मधुर जल-पान करते। जिसके शिखर गगन छू रहे हों ऐसे उच्च वृक्षों पर खेचर मिथुन क्रीड़ा के लिए आकर बैठते। वे हंस मिथुन से लगते। दिव्य कर्पूर और कस्तूरी चूर्ण की तरह घुटने तक भरे हुए कोमल पराग से उस वन की धरती धूलिमय लगती। उद्यान-पालक, राहादन, नींबू आदि वृक्षों की क्यारियों को दूध से भरते। मालिनियों की लड़कियां विचित्र गूंथनकर्म में स्पर्द्धा करती हुई

पुष्पमालाएँ बनातीं। अनेक लोग उत्तम शय्या, आसन और बर्त्तन होते हुए भी केले के पत्र पर सोते, बैठते और भोजन करते। बड़े-बड़े शाखायुक्त फलभार से आनत वृक्ष धरती का स्पर्श करते। आम्र मुकुल के स्वाद से उस वन की कोकिलाओं का मद कभी नहीं उतरता। अनार के स्वाद से उन्मत्त बने शुक पक्षी के कोलाहल से वह वन सर्वदा गुंजरित रहता और वर्षा ऋतु के मेघ की तरह विस्तृत वृक्षों से वह उद्यान छायायुक्त-सा लगता। ऐसे सुन्दर उद्यान में अजित स्वामी ने प्रवेश किया। (श्लोक २४०-२५४)

तदुपरान्त रथी जैसे रथ से उतरता है उसी भाँति संसार समुद्र को पार करने के लिए जगद्गुरु भगवान अपनी शिविका रत्न से नीचे उतरे। फिर देवताओं के लिए भी दुर्लभ ऐसे तीन रत्नों को ग्रहण करने के इच्छुक प्रभु ने समस्त वस्त्र और रत्नालंकारों का परित्याग किया एवं इन्द्र प्रदत्त अदूषित देवदूष्य वस्त्र और उपाधि अर्थात् बाह्य साधन से धर्म का परिचय कराने के लिए अलौकिक उपकरण ग्रहण किया। (श्लोक २५५-२५७)

माघ शुक्ला नवमी का दिन था। उसदिन चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में आया था। भगवान के दो दिन का व्रत था। सन्ध्या का समय था। सप्तच्छद वृक्ष के नीचे प्रभु ने अपने रागादि की तरह सिर के केशों को पंच मुष्ठि से उत्पाटित किया। सौधर्म ने उन केशों को अपने उत्तरीय वस्त्र के कोने में प्रसाद की तरह या संप्राप्त अर्थ की तरह ग्रहण किया और उसी समय ले जाकर क्षीर समुद्र में इस तरह बहा दिया जिस प्रकार नौका के यात्री समुद्र पूजा की वस्तुओं को जल में बहा देते हैं। वहाँ सुर-असुर और मनुष्य आनन्द में कोलाहल कर रहे थे। उन्हें इन्द्र ने शीघ्र लौटकर हस्त संकेत से शान्त कर दिया। फिर प्रभु सिद्धों को नमस्कार कर एवं सामायिक का उच्चारण कर मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए वाहन की तरह चारित्र रूपी रथ पर आरूढ़ हुए। दीक्षा का सहोदर या एक साथ जन्म लिया हो ऐसा चतुर्थ मनपर्यव ज्ञान प्रभु को उत्पन्न हुआ। उस समय एक मुहूर्त्त के लिए नारकी जीवों को भी सुख मिला और तीनों लोक में एक विद्युत प्रकाश की भाँति आलोक व्याप्त हो गया। प्रभु के साथ अन्य एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की। कारण जो स्वामी के चरणों

का अनुगमन करने का व्रत ले लेते हैं उनके लिए दीक्षा ग्रहण ही उचित था। (श्लोक २५८-२६६)

तदुपरान्त जगत्पति को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम कर अच्युतादि इन्द्र इस प्रकार स्तुति करने लगे—

हे प्रभु, आपने पूर्वकृत अभ्यास से वैराग्य को इस प्रकार ग्रहण कर लिया है मानो इससे आपका जन्म-जन्म से एकात्म भाव रहा हो। मोक्ष साधन में प्रवीण हे नाथ! सुख के कारण इष्ट संयोगादि में भी जिस प्रकार आपका वैराग्य उज्ज्वल है उसी प्रकार दुःख के कारण इष्ट वियोगादि में भी वैसा ही वैराग्य है। हे प्रभु, आपने विवेकरूपी शान पर चढ़ाकर वैराग्य रूपी शस्त्र को इतना उज्ज्वल कर लिया है कि मोक्ष प्राप्ति में उसका पराक्रम अकुंठित गति से व्यवहार में आता है। हे नाथ, आप जब देव और राजाओं की लक्ष्मी का उपयोग कर रहे थे तब भी आपका आनन्द तो वैराग्य ही था। काम भोगों से नित्य विरक्त आपका प्रौढ़ वैराग्य जब उत्पन्न हुआ तब आपने सोचा काम भोग अब समाप्त हो गया है अतः योग स्वीकार कर दीक्षा ग्रहण कर ली जाए। जब आप दुःख में, सुख में, संसार में और मोक्ष में उदासीन भाव रखते हैं तो आपका वैराग्य अविच्छिन्न है। आपको किसमें वैराग्य नहीं है? अन्य जीव तो दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य से सम्पन्न होते हैं किन्तु आपके हृदय में तो एक मात्र ज्ञान गर्भित वैराग्य को ही स्थान मिला है। सर्वदा उदासीन होने पर भी जगत के उपकारी समस्त वैराग्यों के आधार और शरण हे परमात्मा, मैं आपको नमस्कार करता हूं। (श्लोक २६७-२७५)

इस प्रकार जगद्गुरु की स्तुति कर और उन्हें नमस्कार कर इन्द्र देवों सहित नंदीश्वर द्वीप गए और वहां अंजनादि पर्वतों पर शक्रादि इन्द्रों ने जन्माभिषेक कल्याणक की तरह शाश्वत अर्हत् प्रतिमाओं का अष्टाह्निका महोत्सव किया एवं फिर कब प्रभु के दर्शन होंगे ऐसा सोचते हुए देवताओं सहित निज-निज आवास को चले गए। (श्लोक २७६-२७८)

सगर राजा भी प्रभु को प्रणाम कर हाथ जोड़कर गद्‌गद् स्वर से इस भाँति विनती करने लगे—

त्रिलोक रूपी पद्मिनी खण्ड को विकसित करने वाले सूर्य तुल्य हे जगद्गुरु अजितनाथ भगवान, आपकी जय हो! हे नाथ,

मति श्रुति अवधि और मनपर्यंव ज्ञान से आप उसी तरह सुशोभित हैं जिस प्रकार चार महासमुद्र से पृथ्वी शोभित है। हे प्रभु, क्रीड़ा मात्र में आप कर्मक्षय कर सकते हैं। आपने जिस परिकर को धारण कर रखा है वह अन्यों को मार्ग दिखाने के लिए है। हे भगवन्, मैं यह मानता हूं कि आप समस्त प्राणियों की एक अन्तरात्मा हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो आप उनके अद्वितीय सुखों के लिए क्यों प्रयत्न करते? आप दयारूपी जल से परिपूर्ण हैं। आप कर्दम की तरह कषाय परित्याग कर कमल की भांति निर्लेप और शुद्ध आत्मा युक्त हो गए हैं। जब आप राज्य कर रहे थे तब भी न्यायाधीश की तरह आप में अपने-पराए का भेद-भाव नहीं था। तब जबकि अब समभावों का अवसर आया है तब आपने जिस समताभाव को प्राप्त किया है उसके विषय में क्या बोला जा सकता है? हे भगवन्, आपका वर्षीदान तो तीन लोक के अभयदान रूपी वृहद् नाटक की प्रस्तावना मात्र है ऐसा मैं कहता हूं। वह देश, वह नगर, जनपद, वह ग्राम धन्य होगा जहां मलयानिल-से प्रसन्न करने वाले आप विचरण करेंगे।

(श्लोक २७९-२८७)

इस प्रकार स्तुति कर प्रभु को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अश्रु भरे नयन से राजा सगर धीरे-धीरे अपने नगर को लौट गए।

(श्लोक २८८)

दूसरे दिन प्रभु ने राजा ब्रह्मदत्त के घर खीर खाकर तीन दिनों के उपवास का पारणा किया। उस समय देवताओंने राजा ब्रह्मदत्त के घर साढ़े बारह करोड़ सुवर्ण मुद्राएं एवं हवा में आन्दोलित लता-पल्लवों की शोभा को हरने वाले उत्कृष्ट वस्त्रों की सृष्टि की। आकाश में इस प्रकार की गम्भीर दुंदुभि बज उठी जैसे ज्वार के समय समुद्र गर्जन करता है। चारों ओर प्रव्रजनकारी प्रभु के यश रूपी स्वेद जल का भ्रम उत्पन्न करने वाले सुगन्धित जल की वृष्टि की और चारों ओर मित्र की तरह भ्रमर परिवेष्टित पंचरंगी फूलों की वृष्टि की। फिर अहोदान, अहोदान, ऐसे शब्दों का उच्चारण करते हुए आनन्दमना-देवगण उच्च स्वर से जय-जय शब्द करते हुए आकाश में जाकर बोलने लगे—देखो, प्रभु को प्रदत्त श्रेष्ठ दान का फल देखो। इसके प्रभाव से दाता उसी समय वैभव सम्पन्न तो हो ही जाता है; किन्तु उससे भी बड़ी बात यह है कि

कोई इसी जन्म में ही मुक्त हो जाता है, कोई द्वितीय जन्म में तो कोई तृतीय जन्म में या कोई कल्पातीत कल्प में उत्पन्न होता है। प्रभु को प्रदत्त भिक्षा को जो देखता है वह देवताओं की तरह नीरोगदेही होता है। (श्लोक २८९-२९८)

हस्ती जिस प्रकार जलपान कर सरोवर से बाहर आ जाता है उसी प्रकार प्रभु राजा ब्रह्मदत्त के घर से पारना कर बाहर आ गए। राजा ब्रह्मदत्त ने यह सोचकर कि भगवान् जहां खड़े थे उस स्थान को कोई उल्लंघन नहीं करे, वहां एक रत्नपीठ निर्मित करवा दिया। प्रभु वहीं हैं ऐसी भावना से राजा ब्रह्मदत्त पुष्पादि से उस पीठ की पूजा करने लगे। चन्दन, पुष्प और वस्त्रादि से जब तक वे पूजन नहीं कर लेते तब तक प्रभु अनाहार हैं ऐसा विचार कर वे भोजन ग्रहण नहीं करते। (श्लोक २९९-३०२)

पवन की तरह अप्रतिहत भ्रमणकारी भगवान् अजितनाथ अखण्ड इर्या-समिति का पालन करते हुए अन्यत्र विहार कर गए। राह में कई स्थानों पर खीरादि अन्न ग्रहण किया। कहीं सुन्दर विलेपन से उनके चरण-कमल चर्चित हुए। कहीं श्रावकों के वन्दना करने वाले बालक उनकी राह देखते। कहीं दर्शनों से अतृप्त लोग उनके पीछे-पीछे चलते। कहीं वे वस्त्र द्वारा उत्तारण मंगल करते। कहीं दही, दूर्वा और अक्षतादि से उन्हें अर्घ्य देते। कहीं उन्हें स्व-घर ले जाने के लिए लोग उनका पथ रोक लेते। कहीं उनके पैरों पर गिरे हुए मनुष्यों से राह रुक जाती। कहीं श्रावक मस्तक के केशों से उनके पथ की धूलि परिष्कृत करते तो कहीं मुग्ध बुद्धि से उनका आदेश मांगते। इस प्रकार निर्ग्रन्थ, निर्मम और निःस्पृह प्रभु अपने संसर्ग से ग्राम और नगरों को तीर्थ तुल्य करते हुए विचरण करने लगे। (श्लोक ३०३-३०९)

जो स्थान उल्लुओं की घुत्कार से भयंकर है, जहां सियार चीत्कार कर रहे हैं, सर्प फुफकार रहे हैं, उन्मत्त बिलाव उत्क्रोश कर रहे हैं, जिनकी आवाजें बाघ से भी भयंकर है, जहां चमरु मृग क्रूर व्यवहार करते हैं, जो केशरी सिंह की गर्जना से प्रतिध्वनित है, जहां बड़े-बड़े हस्तियों द्वारा उखाड़े गए वृक्षों पर से उड़ते हुए कौए कांव-कांव कर रहे हैं, सिंहों की पूंछ की फटकार से पाषाणमय भूमि भग्न हो रही है, जहां का पथ अष्टापद द्वारा चूर्ण हस्तियों की हड्डियों से भरा है, जहां शिकार को उत्सुक भीलों के धनुष टंकार

की प्रतिध्वनि सुनी जाती है, जहां बन्दरों के कान काट लेने को भील बालक अधीर हो रहे हैं, जहां वृक्ष शाखाओं के अग्रभागों के संघर्षण से अग्नि-स्फुलिंग निकल रहे हैं ऐसे पर्वत और महारण्य में और उसी भांति ग्राम और नगर में अजितनाथ स्वामी स्थिर चित्त से इच्छानुसार विचरण करने लगे। कभी नीचे देखने से चक्कर आ जाए ऐसे ऊँचे पर्वतों के उन शिखरों पर मानो द्वितीय शिखर ही हों इस प्रकार प्रभु कायोत्सर्ग ध्यान में अवस्थित हो जाते। कभी उछल-कूद करते कपि-समूह ने जिसकी अस्थि सन्धियों (कमरों) को तोड़ दिया है ऐसे महासमुद्र के तट पर वृक्ष की तरह स्थित हो जाते, कभी क्रीड़ारत उत्ताल हुए वेताल, पिशाच और प्रेतों से भरे और जहां चक्रवाती वायु से धूल उड़ रही है ऐसे श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो जाते। इनसे भी अधिक भयंकर स्थानों में जाकर प्रभु ध्यान लगाते। आर्य देशों में विचरण करते समय अक्षीण शक्ति सम्पन्न प्रभु अजितनाथ कभी चतुर्थ तप, कभी षष्ठ तप, कभी अष्टम तप करते तो कभी दशम, कभी द्वादश, कभी चतुर्दश, कभी षोडश, कभी अष्टादश तप करते। कभी मासिक तप, कभी द्विमासिक तप, कभी त्रैमासिक, कभी चतुर्थ मासिक तो कभी पंचमासिक, कभी षण्मासिक, सप्तमासिक तो कभी अष्टमासिक तप करते। मस्तक को तप्त कर देने वाली प्रखर ग्रीष्म ऋतु की धूप में देह की स्पृहा न रखने वाले प्रभु कभी भी वृक्ष की छाया नहीं चाहते। तुषारपात से जब वृक्ष-समूह जम जाते ऐसी हेमन्त ऋतु में भी प्रभु अधिक पित्तवाले पुरुष की तरह कभी भी धूप की इच्छा नहीं करते। वर्षाकाल में पवन वेग से भी अधिक दुःसह मूसलाधार वर्षा में भी प्रभु जलचर हस्ती की तरह जरा भी नहीं घबराते। पृथ्वी की तरह सबको सहने वाले पृथ्वी के तिलकरूप प्रभु इस भांति अनेक दुःसह परिषहों की तरह सहन करते। इस तरह विविध प्रकार के उग्र तप और विविध प्रकार के अभिग्रह-परिषहों को सहन करते हुए प्रभु ने बारह वर्षों तक प्रव्रजन किया। (श्लोक ३१०-३२८)

तदुपरान्त गैंडे की तरह पृथ्वी पर बिना बैठे गैंडे के सींगों की तरह अकेले विचरण करते हुए, सुमेरु पर्वत की तरह कम्पन रहित, सिंह की तरह निर्भय, पवन की तरह अप्रतिबद्धविहारी, सर्प की तरह एक दृष्टि सम्पन्न, अग्नि में जिस प्रकार सुवर्ण और

उज्ज्वल हो जाता है उसी प्रकार तपस्या से अधिक कान्तिसम्पन्न, क्यारियों से घिरे सुन्दर वृक्ष की तरह तीन गुप्तियों से सुशोभित, पंचशरधारी कामदेव की तरह पंच समितियों को धारण करने वाले आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थानों का चिन्तन करने से चार प्रकार के ध्येय का ध्यान करने वाले और ध्येय रूप ऐसे प्रभु प्रत्येक ग्राम, नगर और वन में भ्रमण करते हुए सहस्राम्रवन नामक उद्यान में आए। वहां सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे तने की तरह अकम्प होकर प्रभु ने कायोत्सर्ग ध्यान किया। उस समय प्रभु अप्रमत्त संयत नामक गुणस्थान से अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान में आए। श्रोत अर्थ से शब्द की ओर आकर प्रभु ने नाना प्रकार के श्रुत विचार सम्पन्न शुक्ल ध्यान के प्रथम पद को प्राप्त किया। फिर जिससे समस्त जीवों पर समान परिणाम हो ऐसे अनिवृत्तिबादर नामक नवम गुणस्थान पर आरूढ़ हुए। तदुपरान्त लोभरूपी कषाय को सूक्ष्म खण्ड करने से सूक्ष्म सम्प्राय नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त हुए। इससे तीन लोक के समस्त जीवों के कर्म क्षय करने में समर्थ ऐसे वीर्य सम्पन्न प्रभु मोह नाश कर क्षीण मोह नामक द्वादश गुणस्थान को प्राप्त हुए। इस द्वादश गुणस्थान के अन्तिम समय प्रभु एकत्वश्रुत अविचार नामक शुक्ल ध्यान के द्वितीय पद को प्राप्त हुए। इस ध्यान में त्रिलोक के विषयों में स्थित अपने मन को इस प्रकार एक परमाणु में स्थिर कर लिया जिस प्रकार सर्प मन्त्र से समस्त शरीर में परिव्याप्त विष दंशित स्थान पर आ जाता है। ईंधनों को हटा देने पर अल्प ईंधन की अग्नि जिस प्रकार स्वतः ही बुझ जाती है उसी प्रकार उनका मन भी सर्वथा निवृत्त हो गया। फिर ध्यानरूपी अग्नि प्रज्वलित होने से उस अग्नि में हिम की तरह उनके समस्त घाती कर्म क्षय हो गए और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उस दिन प्रभु के षष्ठ तप था। पौष मास की एकादशी थी और चन्द्र रोहिणी नक्षत्र में अवस्थित था। (श्लोक ३२९-३४४)

उस ज्ञान के उत्पन्न होने से तीन लोकों में स्थित तीन काल के समस्त भावों को हाथ पर रखी वस्तु की भांति प्रभु देखने लगे। जिस समय प्रभु को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ उसी समय प्रभु की अवज्ञा के भय से मानो कम्पित हुआ हो इस प्रकार सौधर्म देवलोक के इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। जल की गम्भीरता को जानने के लिए मनुष्य जिस प्रकार जल में रस्सी गिराता है उसी प्रकार

सौधर्मेन्द्र ने कांपने का कारण जानने के लिए अवधिज्ञान का प्रयोग किया। दीपालोक में जिस प्रकार वस्तु दृष्ट होती है उसी प्रकार सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान् को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ है अवगत किया। वे उसी समय रत्न-सिंहासन और रत्न-पादुकाओं को त्यागकर उठ खड़े हुए। कारण, सज्जनों को स्वामी की अवज्ञा का बहुत भय रहता है। गीतार्थ गुरु का शिष्य गुरु कथित अनुकूल भूमि पर जिस प्रकार पांव रखता है उसी प्रकार वे अर्हत् की ओर सात-आठ कदम आगे आए और बाएँ घुटने को झुकाकर दाहिने घुटने को दोनों हाथों और मस्तक को जमीन से स्पर्श कर प्रभु को नमस्कार किया। फिर खड़े होकर पीछे मुड़कर उन्होंने सिंहासन को उसी प्रकार अलंकृत किया जिस प्रकार केशरी सिंह पर्वत शिखर को अलंकृत करता है। तदुपरान्त समस्त देवताओं को बुलाकर ऋद्धि और देवों सहित प्रभु के निकट आए। अन्य इन्द्र भी आसन कम्पित होने से स्वामी ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया है जानकर मैं पहले जाऊँगा ऐसी स्पर्द्धा से प्रभु के निकट आए।

(श्लोक ३४५-३५४)

फिर कार्यकर्त्ता आए। वायुकुमार देवों ने एक योजन प्रमाण भूमि से कंकरादि दूर किए। मेघकुमार देवताओं ने शरद्कालीन मेघ जिस प्रकार धूल को शान्त करता है उसी प्रकार वहां सुगन्धित जल की वर्षा कर धूल को शान्त किया। अन्य व्यन्तर देवों ने चैत्य के मध्य भाग की तरह कोमल स्वर्ण रत्नों की शिलाओं से उस भूमि को समतल किया। प्रातःकालीन पवन की तरह ऋतु की अधिष्ठायिका देवियों ने घुटने तक विकसित फूलों की वर्षा की। भुवनपति देवताओं ने भीतर मणिस्तूप निर्मित कर उसके चारों ओर स्वर्ण किनारा बनाकर चाँदी के प्राकार का निर्माण किया। देवताओं ने इसके भीतर रत्नों का किनारा बनाने के लिए मानो अपनी ज्योति एकत्र कर रहे हों ऐसे सुवर्णमय द्वितीय प्राकार का निर्माण किया। उसके भीतर वैमानिक देवताओं ने माणिक्य का प्रान्तभाग बनाकर तृतीय प्राकार की रचना की। प्रत्येक प्राकार में जम्बूद्वीप की तरह मानो मन को आश्रय देने के लिए स्थान हों ऐसे चार-चार सुन्दर द्वार निर्मित किए। प्रत्येक द्वार पर मरकत मणि-मय पत्रों के तोरण बनाए। तोरणों के दोनों ओर श्रेणीबद्ध कमल से ढके कुम्भ रखे। वे समुद्र के चारों ओर सन्ध्याकाल में अवस्थित

चक्रवाक की तरह लग रहे थे। प्रत्येक दरवाजे पर स्वर्ण-कमलों से सुशोभित स्वच्छ और मधुर जल से भरे मङ्गल कलश-सी एक-एक वापी का निर्माण किया। प्रत्येक दरवाजे पर देवों ने सोने की धूपदानी रखी। वे धुँए के कारण ऐसी लग रही थीं मानो मरकत-मणियों के तोरण विस्तृत कर रही हों। प्रथम प्राकार के मध्य ईशानकोण में देवों ने प्रभु के लिए एक देवछन्द निर्मित किया। उस प्राकार के मध्य व्यन्तर देवताओं ने एक कोश चौदह सौ धनुष ऊँचे चैत्य वृक्ष का निर्माण किया। व्यन्तरों ने ही उसके नीचे प्रभु के बैठने के लिए सिंहासन, देवछन्दक, दो चँवर और छत्रत्रय का निर्माण किया। इस भांति देवताओं ने समस्त विपत्ति को हरने वाले संसार परितापित पुरुषों के लिए आश्रय रूप भव्य समोसरण की रचना की। (श्लोक ३५५-३७०)

तदुपरान्त चारणों की तरह जय-जय शब्द करते हुए देवताओं द्वारा परिवृत बने, देवताओं द्वारा ही निर्मित नवीन सुवर्ण कमलों पर अनुक्रम से चरण रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा की। कारण, महान् पुरुष भी आवश्यक विधि का उल्लंघन नहीं करते। फिर 'तीर्थाय नमः' कहते हुए तीर्थ को नमस्कार कर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन के मध्य भाग में बैठ गए। उसी समय अवशिष्ट कर्म को करने के अधिकारी व्यन्तर देवों ने अन्य तीन और प्रभु के प्रतिबिम्ब का निर्माण किया। स्वामी के प्रभाव से वे प्रतिबिम्ब प्रभु के अनुरूप ही बने। अन्यथा वे प्रभु का प्रतिबिम्ब तैयार करने में समर्थ नहीं थे। उसी समय पीछे की ओर प्रभा-मण्डल, सम्मुख धर्मचक्र और इन्द्रध्वजा एवं आकाश में दुंदुभिनाद प्रकट हुआ। इसके बाद साधु-साध्वी और वैमानिक देवताओं की देवियां रूप तीन पर्षदा ने पूर्वद्वार से प्रवेश कर प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी एवं प्रणाम कर अग्निकोण में आए। आगे साधु बैठे, उनके पीछे साध्वियां खड़ी हो गयीं। भुवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवियों ने दक्षिण द्वार से प्रविष्ट होकर प्रभु को प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और अनुक्रम से नैऋत्य कोण में खड़ी हो गयीं। भुवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव ने पश्चिम दिशा से प्रविष्ट होकर प्रभु को प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और अनुक्रम से वायव्य कोण में बैठ गए। इन्द्र सहित वैमानिक देव ने उत्तर द्वार से प्रविष्ट होकर प्रभु को प्रदक्षिणा दी और नमस्कार

कर ईशान कोण में अनुक्रम से बैठ गए। (श्लोक ३७१-३८२)

उस समय इन्द्र की देह भक्ति से रोमांचित हो उठी। वे पुनः हाथ जोड़कर नमस्कार कर इस प्रकार स्तुति करने लगे—

हे नाथ, तीर्थङ्कर नाम कर्म के कारण सकल के अभिमुख अर्थात् अग्रणी और सर्वदा सम्मुख अवस्थान कर आप अनुकूल होकर समस्त प्रजा को आनन्दित करते हैं। आपके एक योजन विस्तृत धर्म-देशना के समोसरण में कोटि-कोटि तिर्यंच, मनुष्य और देव अवस्थित हो सकते हैं। एक भाषा में बोला हुआ; किन्तु प्रत्येक को अपनी-अपनी भाषा में बोध-गम्य, सबको प्रिय और धर्म-बोध देने वाले आपके वाक्य भी तीर्थङ्कर नाम कर्म के लिए ही हैं। आपकी विहार भूमि के चारों ओर एक सौ पच्चीस योजन पर्यन्त पूर्वागत रोगरूपी मेघ आपके विहार रूपी पवन से अनायास ही नष्ट हो जाते हैं। न्यायपरायण राजाओं के द्वारा विनष्ट अनीति की तरह आप जहां भी विहार करते हैं वहां चूहे, टिड्डियां, शुक आदि पक्षियों के उद्भव रूप दुर्भिक्ष आदि विनष्ट हो जाते हैं। आपकी कृपा रूप पुष्करावर्त वर्षा से पृथ्वी पर स्त्री, क्षेत्र और द्रव्यादि-जन्य उत्पन्न वैराग्नि भी शान्त हो जाती है।

(श्लोक ३८३-३८९)

हे नाथ, अकल्याण को विनष्ट करने के लिए ढिंढोरे के समान आपका प्रभाव पृथ्वी पर भ्रमण करता है। इससे मनुष्य लोक के शत्रु महामारी आदि रोग उत्पन्न नहीं होते। विश्व-वत्सल और लोक के मनोरथ पूर्ण करने वाले आपके विचरण करते रहने से उत्पातकारी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नहीं होती। आपके प्रभाव के सिंहनाद से हस्तियों की तरह स्वराज्य और परराज्य सम्बन्धित क्षुद्र उपद्रव तो उसी मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकार से विलक्षण प्रभाव सम्पन्न और जंगम कल्पवृक्ष सम आप जहाँ जाते हैं वहां दुर्भिक्ष हो तो दूर हो जाता है। आपके मस्तक के पीछे जो भामण्डल है वह सूर्यतेज को भी पराभव करता है। इसीलिए वह पिण्डाकार प्रतीत होता है ताकि आपकी देह मनुष्य के लिए दूरालोक्य न हो। हे भगवन्, घाती कर्मों के क्षय हो जाने से आपके इस योग साम्राज्य की महिमा-विश्व-विश्रुत हो गयी है यह बात किसको आश्चर्यजनक नहीं लगती? आपके अलावा कौन अनन्त कर्म रूपी तृण-समूह को समस्त प्रकार से जड़ से उखाड़कर भस्म कर सकता

है ? क्रिया की अधिकता से आप इस भाँति प्रयत्न में लग्न हैं कि इच्छा नहीं करने पर भी लक्ष्मी आपका ही आश्रय लेती हैं। मैत्री के पवित्र पात्र रूप आमोदशाली और कृपा एवं उपेक्षाकारियों के मध्य मुख्य हे योगात्मा, मैं आपको नमस्कार करता हूं।

(श्लोक ३९०-३९८)

उधर उद्यानपाल ने सगर चक्रवर्ती के निकट जाकर निवेदन किया कि उद्यान में भगवान अजितनाथ स्वामी का समोसरण लगा है। प्रभु के समोसरण को सुनकर सगर जितने आनन्दित हुए उतने चक्र प्राप्ति के संवाद से भी नहीं हुए। आनन्दमना सगर चक्रवर्ती ने उद्यान पालक को साढ़े बारह कोटि सुवर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दीं। फिर स्नान, प्रायश्चित्त और कौतुक मङ्गलादि कर इन्द्र की तरह उदार आकृतिमय रत्नाभरण धारण कर स्कन्धों पर दृढ़ता से हाथ रख हाथों से अंकुश को नचाते हुए सगर राजा उत्तम हस्ती के अग्रासन पर बैठे। हस्ती कुम्भ से जिनका आधा शरीर आवृत हो गया है ऐसे चक्री अर्द्ध-उदित सूर्य से शोभित हो रहे थे। शंख और तूर्य निनादों के दिशाओं में व्याप्त हो जाने पर सगर राजा के सैनिक उसी प्रकार एकत्र हो गए जिस प्रकार सुघोषादि घण्टों के बजने पर देव एकत्र हो जाते हैं। उस समय हजार-हजार मुकुटधारी राजाओं के परिवार से परिवृत चक्री ऐसे लग रहे थे मानो उन्होंने अनेक रूप धारण कर रखे हों। मस्तक पर अभिषिक्त हुए राजाओं में मुकुट के समान चक्री मस्तक पर आकाश गङ्गा के आवर्त्त का भ्रम पैदा करने वाले श्वेत छत्र से सुशोभित थे। दोनों ओर आन्दोलित चँवर से वे इस प्रकार शोभा पा रहे थे जिस प्रकार दोनों ओर के चन्द्रमाओं से मेरुपर्वत शोभा पाता है। मानो स्वर्ण पंख युक्त पक्षी हों ऐसे स्वर्ण कवच युक्त अश्वों से, जैसे पाल चढ़ाए हुए कूप स्तम्भ युक्त जहाज हों ऐसे उच्च-ध्वज-दण्ड शोभित रथों से, मानो निर्झर पर्वत हों ऐसे मद झरते हस्तियों से, मानों सर्प सहित सिन्धु की तरंग हो ऐसे ऊंचे अस्त्रधारी पैदल सेना से पृथ्वी को चारों ओर से आच्छादित करता हुआ सगर चक्रवर्ती सहस्राम्रवन नामक उपवन के समीप आए। फिर महामुनि जिस प्रकार मान से उतरते हैं उसी प्रकार राजा सगर उद्यान द्वार की स्वर्णवेदी पर हाथी से उतरे। अपने छत्र चामरादि राजचिह्नों का वहीं परित्याग कर दिया। कारण विनयी पुरुष इसी प्रकार मर्यादा

की रक्षा करते हैं। विनय के कारण ही उन्होंने पैरों के जूते उतार दिए। छड़ीदार द्वारा प्रदत्त हाथ के सहारे की भी उपेक्षा की अर्थात् उसे ग्रहण नहीं किया। फिर नगर के नर-नारियों के साथ पैदल चलकर समोसरण के निकट पहुंचे। तदुपरान्त मकर संक्रान्ति के दिन सूर्य जैसे आकाश के प्रांगण में प्रवेश करता है उसी प्रकार उत्तरी द्वार से उन्होंने समोसरण में प्रवेश किया। वहाँ जगद्गुरु को तीन प्रदक्षिणा देकर और नमस्कार कर अमृत जैसी मधुर वाणी में स्तुति करने लगे— (श्लोक ३९९-४१७)

हे प्रभो, मिथ्यादृष्टि वाले के लिए कल्पान्तकारी सूर्य की तरह और सम्यक् दृष्टि वाले के लिए अमृत के अंजन तुल्य और तीर्थंकरत्व की लक्ष्मी के लिए तिलक रूप यह चक्र आपके सम्मुख अवस्थित है। इस जगत के आप अकेले ही स्वामी हैं। यह कहने के लिए इन्द्र ने मानो इन्द्रध्वजा के बहाने अपनी तर्जनी उत्तोलित कर रखी है। जब आप पाँव रखते हैं तो सुर और असुर कमल रखने के बहाने कमल पर निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (श्लोक ४१८-४२०)

मुझे लगता है—दान, शील, तप और भाव इन चारों प्रकारों के धर्म को एक साथ बोलने के लिए आप चतुर्मुख हो गए हैं। त्रिलोक को त्रिदोष से बचाने के लिए आप जो प्रयत्न कर रहे हैं उसी लिए देवताओं ने मानो उन तीन प्राकारों की रचना की है। आप जब धरती पर चलते हैं तो काँटे अधोमुख हो जाते हैं; किन्तु इसमें आश्चर्य क्या है? कारण जब सूर्य उदित होता है तब अन्धकार सम्मुख नहीं आता, आ ही नहीं सकता। केश, रोएँ, नख, दाढ़ी, मूंछ बढ़ते नहीं। वे जैसे होते हैं वैसे ही रहते हैं। यह बाह्य योग महिमा तीर्थंकर के अतिरिक्त और किसी को प्राप्त नहीं होती। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामक पाँच इन्द्रियों के विषय आपके सम्मुख तार्किकों की तरह प्रतिकूल नहीं बनते। समस्त ऋतुएँ असमय में कामदेव को सहायता देने के भय से एक साथ आपके चरणों की सेवा करती है। भविष्य में आपके चरणस्पर्श होने वाले हैं यह सोचकर देव सुगन्धित जल और दिव्य पुष्पों की वृष्टि कर पृथ्वी की पूजा करते हैं। हे जगत्पूज्य, जब कि पक्षी भी चारों ओर से आपकी परिक्रमा देते हैं, आपके विपरीत दिशा में नहीं जाते तब मनुष्य होकर भी जो आपके प्रति विमुख

होकर रहते हैं वे जगत में बड़ा कहलाते हुए विचरण करते हैं उनकी गति क्या होगी ? जबकि आपके समीप आकर एकेन्द्रिय पवन भी प्रतिकूलता का परित्याग करते हैं तब पंचेन्द्रिय दुःशील कैसे हो सकता है ? आपके माहात्म्य से चमत्कार प्राप्त वृक्ष भी जब माथा झुका कर आपको नमस्कार करते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ होते हैं तब जिनके मस्तक आपके सम्मुख नहीं झुकते उन मिथ्यात्वियों के मस्तक अकृतार्थ और व्यर्थ ही होते हैं। कम से कम करोड़ों सुरासुर आपकी सेवा करते हैं। कारण मूर्ख और आलस्यपरायण व्यक्ति भी भाग्योदय से प्राप्त अर्थ के प्रति उदासीनता नहीं दिखाते। (श्लोक ४२१-४३१)

इस भांति भगवान् की स्तुति कर विनय सहित पीछे हटकर चक्रवर्ती सगर इन्द्र के पीछे जा बैठे। समवसरण के अन्तिम उच्च-गढ़ के भीतर भक्ति के द्वारा मानो ध्यानावस्थित हों इस प्रकार चतुर्विध संघ आ बैठा। द्वितीय गढ़ में सर्प, नकुल आदि तिर्यंच जाति के जीव वैर परित्याग कर परस्पर मित्र हों इस भांति बैठ गए। तृतीय गढ़ में प्रभु की सेवा के लिए आए सुरासुर और मनुष्यों के वाहन थे। सबके बैठ जाने के पश्चात् एक योजन पर्यन्त सुना जा सके और सभी भाषाओं में समझा जा सके ऐसी मधुर वाणी से भगवान् अजितनाथ स्वामी ने धर्मदेशना देनी प्रारम्भ की—

(श्लोक ४३२-४३६)

ओह, इन मुग्धबुद्धि मनुष्यों को धिक्कार है जो कांच को वैदूर्यमणि और असार संसार को सारवान समझते हैं। प्रति क्षण बद्ध कर्मों से प्राणियों के लिए संसार इस प्रकार बढ़ता जाता है, जिस प्रकार दोहद से वृक्ष पुष्पान्वित होता है। कर्म के अभाव से ही संसार का अभाव होता है अतः विद्वानों को कर्मनाश के लिए सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए। शुभ ध्यान से कर्म का नाश होता है। वह ध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचय नामक चार प्रकार का है। (श्लोक ४३७-४४०)

(१) आज्ञा विचय—आप्त या सर्वज्ञों के कथन को आज्ञा बोला जाता है। आज्ञा दो प्रकार की है। आगम आज्ञा और हेतुवाद आज्ञा। जिस पदार्थ का प्रतिपादन होता है उसे आगम आज्ञा कहा जाता है। प्रमाण की चर्चा से पदार्थ का जो प्रतिपादन किया

जाता है उसे हेतुवाद ग्राज्ञा कहा जाता है। इन दोनों का समान होना प्रमाण है। दोषरहित कारण के ग्रारम्भ के लक्षण प्रमाणित होते हैं। राग, द्वेष ग्रौर मोह को दोष कहा जाता है। ग्रर्हत् में ये दोष नहीं होते। इसीलिए दोषरहित कारण से सम्भूत ग्रर्हत् वाक्य प्रमाण हैं। वे वाक्य नय ग्रौर प्रमाण से सिद्ध, पूर्वापर विरोध रहित, ग्रन्य बलवान शासन से भी ग्रप्रतिक्षेप्य ग्रर्थात् ग्रकाट्य है। अंग-उपांग-प्रकीर्ण इत्यादि बहु शास्त्र रूपी नदियों के लिए समुद्र रूप, ग्रनेक ग्रतिशयों के साम्राज्य लक्ष्मी से सुशोभित, ग्रभव्य पुरुषों के लिए दुर्लभ, भव्य पुरुषों के लिए शीघ्र सुलभ, गणि पिटक परम्परा में रक्षित, देव ग्रौर दानवों की नित्य स्तुति करने लायक हैं। ऐसे ग्रागम वचनों की ग्राज्ञा का ग्रालम्बन कर स्याद्वाद ग्रौर न्याय के योग से द्रव्य पर्यायरूप से नित्य-ग्रनित्य वस्तु में इसी तरह स्वरूप ग्रौर पररूप से सत्-ग्रसत् प्रकार से रहे पदार्थ में जो स्थिर विश्वास करना है उसे ग्राज्ञा विचय ध्यान कहते हैं। (श्लोक ४४१-४४९)

(२) ग्रपाय विचय – जो जिन-मार्ग को स्पर्श नहीं करते, जो परमात्मा को नहीं मानते या ग्रागामी काल अर्थात् भविष्य का विचार नहीं करते ऐसे व्यक्तियों के हजार अपाय (विघ्न) आते हैं। माया या मोह रूप अन्धकार में जिनका चित्त परवश है अर्थात् जो अज्ञान के अन्धकार के कारण देख नहीं सकते वे प्राणी क्या-क्या पाप नहीं करते और उन पापों के कारण क्या-क्या कष्ट नहीं पाते। ऐसे प्राणियों को विचार करना चाहिए कि नारक, तिर्यंच और मनुष्य जीवन में मैंने जो-जो दुःख भोगे हैं उन सबका कारण मेरा दुष्ट प्रमाद है। परम बोधि बीज को प्राप्त कर मन, वचन और काया द्वारा कृत चेष्टाओं से मैंने मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित की है। मुक्ति मार्ग पर चलना मेरे हाथ में था; किन्तु मैंने कुमार्ग को खोजा और उस पर चला। इस प्रकार मैंने स्वयं ही निज आत्मा को कष्टों में डाल दिया है। जिस प्रकार उत्कृष्ट राज्य पाने पर भी मूर्ख भिक्षा के लिए निकलता है उसी प्रकार मोक्ष साम्राज्य अधिकार में होने पर भी मैं अपनी आत्मा को ससार भ्रमण करवा रहा हूं। इस भांति राग, द्वेष ग्रौर मोह से उत्पन्न ग्रपायों का विचार ही ग्रपाय विचय नामक द्वितीय धर्म ध्यान है। (श्लोक ४५०-४५६)

(३) विपाक विचय—कर्म के फल को विपाक कहा जाता है। वह विपाक शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। द्रव्य क्षेत्रादि सामग्री द्वारा विचित्र प्रकार से उसका अनुभव होता है। स्त्री, पुष्पमाला और खाद्य द्रव्यों का उपभोग शुभ विपाक है और सर्प, शस्त्र, अग्नि, विष आदि पदार्थों का अनुभव अशुभ विपाक है। यह शुभाशुभ विपाक द्रव्य-विपाक कहा जाता है।

(श्लोक ४५७-४५८)

अट्टालिका, उद्यान इत्यादि स्थानों में रहना शुभ विपाक है एवं श्मशान, जङ्गल आदि स्थानों में अशुभ विपाक है। यह शुभाशुभ विपाक क्षेत्र विपाक है। (श्लोक ४५९)

शीत, ग्रीष्म रहित बसन्त ऋतु कालीन स्थानों में भ्रमण शुभ विपाक और शीत, ग्रीष्म ऋतु कालीन स्थानों में भ्रमण अशुभ विपाक है। इन्हें काल-विपाक कहते हैं। (श्लोक ४६०)

मन की प्रसन्नता और सन्तोष की भावना शुभ विपाक है और क्रोध, अहङ्कार आदि रौद्र भावना अशुभ विपाक है। इन्हें भाव विपाक कहते हैं। (श्लोक ४६१)

कहा गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव प्राप्त कर कर्म का उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम होता है। इस प्रकार द्रव्यादि सामग्री के योग से प्राणियों के कर्म अपना फल देते हैं। कर्म के मुख्य आठ भेद हैं— (श्लोक ४६२-४६४)

१ ज्ञानावरणीय—आँखों पर कपड़े की पट्टी बँधी रहने पर जिस प्रकार आँखें देख नहीं सकतीं उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से सर्वज्ञ स्वरूप जीव का ज्ञान रुद्ध होता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान पांच प्रकार का है: मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय और केवल। इन पांचों के आवृत्त होने से ज्ञानावरणीय के भी इनके अनुसार पांच भेद होते हैं—मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मन:पर्याय ज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय। (श्लोक ४६५-४६६)

२ दर्शनावरणीय—पांच निद्राएँ (निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि) और चार दर्शन (चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन) जो जो आवृत्त करता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है। राजा को देखने का अभिलाषी प्रहरी द्वारा रोके जाने पर जिस प्रकार राजा को नहीं

देख सकता उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से आत्म-दर्शन नहीं होता उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है। (श्लोक ४६७-४६८)

३ वेदनीय—खड्ग की धार पर यदि मधु लगा रहे उसको चाटने पर सुख और दुःख का अनुभव रूप स्वभावयुक्त होने से यह दो प्रकार का होता है—शाता वेदनीय, अशाता वेदनीय। (श्लोक ४६९)

४ मोहनीय कर्म—ज्ञानी व्यक्तियों ने मोहनीय कर्म को मदिरा पान जैसा बतलाया है। कारण, इस कर्म के उदय से मोह प्राप्त आत्मा कृत्य-अकृत्य को नहीं समझ पाता। उसमें मिथ्यादृष्टि के कारण विपाककारी दर्शन मोहनीय कर्म नाम से और विरति विराग आवृतकारी चारित्र मोहनीय कर्म के नाम से अभिहित होता है। (श्लोक ४७०-४७१)

५ आयु कर्म—मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देव के भेद से यह चार प्रकार का है। आयुकर्म प्राणियों को अपने-अपने जन्म में कारागार की तरह आबद्ध कर रखता है। (श्लोक ४७२)

६ नाम कर्म—गति, जाति आदि वैचित्र्य प्रदान करने वाला नाम कर्म चित्रकार की भांति होता है। इसके विपाक से ही प्राणियों को शरीर मिलता है। (श्लोक ४७३)

७ गोत्र कर्म—यह ऊँच-नीच के भेद से दो प्रकार का है। इससे प्राणियों को ऊँच-नीच गोत्र प्राप्त होता है। यह कर्म क्षीर-पात्र और मदिरा-पात्र का भेद करने वाले कुम्भकार की तरह है। (श्लोक ४७४)

८ अन्तराय कर्म—जिस कर्म के कारण दानादि लब्धि सफल नहीं होती उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसका स्वभाव भण्डारी जैसा है। (श्लोक १७५)

इस प्रकार मूल प्रकृति का इस तरह से विपाक परिणाम का विचार करना विपाक विचय नामक धर्म ध्यान कहा जाता है। (श्लोक ४७६)

(४) संस्थान विचय—उत्पत्ति, स्थिति और लय रूप आदि अन्तहीन लोकाकृति के विचार को संस्थान विचय धर्म ध्यान कहते हैं। यह लोक कटि देश पर हाथ रखे दोनों पाँवों को चौड़ा कर खड़े हुए पुरुष की आकृति की तरह है और यह उत्पत्ति, स्थिति और नाशवान पर्याय युक्त द्रव्य से परिपूर्ण है। यह लोक निम्न भाग

में वेत्रासन तुल्य है। मध्य में झालर की तरह और ऊपर मृदङ्ग आकृति विशिष्ट हैं। यह लोक तीन जगत् में व्याप्त है। इसके नीचे की सात भूमि महा बलवान घनोदधि, घनवात और तनुवात से घिरी है। अधोलोक, तिर्यंचलोक, और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह तीन जगद् व्यापी है। ये तीन विभाग सूचक प्रदेश की अपेक्षा से किया गया है। मेरुपर्वत के मध्य भाग में गाय के स्तनों के आकार वाला, आकाश प्रदेश को सीमित करने वाला, चार नीचे और चार ऊपर ऐसे आठ रूचक प्रदेश हैं। इस रूचक प्रदेश के ऊपर और नीचे नौ-नौ सौ योजन पर्यन्त तिर्यंचलोक है। इस तिर्यंचलोक के नीचे का भाग अधोलोक, वह नौ सौ योजन कम सात रज्जू प्रमाण है। अधोलोक में एक के नीचे एक इस अनुक्रम से सात भूमियां हैं। इनमें नपुंसक नारकियों के भयंकर निवास स्थान है :

नरक के नाम	नरकों का विस्तार	नरकावास
रत्नप्रभा	एक लाख अस्सी हजार योजन	तीस लाख
शर्कराप्रभा	एक लाख बत्तीस हजार योजन	पच्चीस लाख
बालुकाप्रभा	एक लाख अट्ठाइस हजार योजन	पन्द्रह लाख
पंकप्रभा	एक लाख बीस हजार योजन	दस लाख
धूम्रप्रभा	एक लाख अठारह हजार योजन	तीन लाख
तमःप्रभा	एक लाख सोलह हजार योजन	पांच कम एक लाख
महोतमःप्रभा	एक लाख आठ हजार योजन	पांच

(श्लोक ४७७-४९०)

इन रत्नप्रभादि सातों भूमियों के मध्य बीस हजार योजन विस्तृत घनाब्धि, घनाब्धि के नीचे असंख्य योजन पर्यन्त विस्तृत घनवात, घनवात के नीचे असंख्य योजन पर्यन्त विस्तृत तनुवात व तनुवात के नीचे असंख्य योजन पर्यन्त विस्तृत आकाश। मध्य का विस्तार क्रमशः कम होते हुए घनाब्धि आदि का आकार अन्ततः कंकण तुल्य हो गया है। रत्नप्रभा भूमि के शेष भाग में परिधि की तरह चारों ओर घनाब्धि है। इसकी विस्तृति का छह योजन है। उसके चारों ओर महावात का चार योजन का मण्डल है। उसके चारों ओर तनुवात का मण्डल डेढ़ योजन है। इस प्रकार रत्नप्रभा के चारों ओर मण्डल प्रमाण छोड़कर शर्कराप्रभा भूमि के चारों ओर घनाब्धि एक योजन के तृतीय भाग से अधिक है। घनवात एक कोश अधिक और तनुवात एक कोश का तृतीय भाग

अधिक है। शर्कराप्रभा के भी वलय प्रमाण छोड़कर तृतीय बालुकाप्रभा भूमि के चारों ओर इसी प्रकार की अधिकता है। इसी भांति पूर्व वलयों के प्रमाण में बाद के वलयों के प्रमाण में सप्तम भूमि के वलय पर्यन्त वृद्धि होती रहती है। इन घनाब्धि, महावात और तनुवात के मण्डल की उच्चता अपनी-अपनी पृथ्वी की उच्चता के समान है। इस प्रकार सात पृथ्वी को घनाब्धि आदि धारण करते हैं। इनमें पाप कर्मों के भोग के लिए नरकावास निर्मित हुए हैं। इन नरक भूमियों में जैसे-जैसे नीचे उतरते जाएँ वैसे-वैसे यातना, रोग, शरीर, आयुष्य, लेश्या, दुःख और भयादि क्रमशः बढ़ते जाते हैं। यह बात निश्चय रूप में समझना उचित है।

(श्लोक ४९१-५०३)

रत्नप्रभा का विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसमें एक हजार योजन ऊपर और नीचे छोड़ देने पर जो अवशिष्ट भाग रहता है उनमें भवनपति देवों का निवास है। इसके उत्तर और दक्षिण में जिस प्रकार राजपथ के दोनों ओर श्रेणीबद्ध अट्टालिकाएँ रहती हैं उसी प्रकार भवनपतियों के भवन हैं और वे वहीं रहते हैं। उन भवनों में मुकुट-मणियों के चिह्न युक्त असुरकुमार, सर्प-फणों के चिह्न युक्त नागकुमार, वज्र चिह्न युक्त विद्युतकुमार, गरुड़ चिह्न युक्त सुपर्णकुमार, घट चिह्न युक्त अग्निकुमार, अश्व चिह्न युक्त वायुकुमार, वर्द्धमानक चिह्न युक्त स्तनितकुमार, मकर चिह्न युक्त उदधिकुमार, केशरी सिंह चिह्न युक्त द्वीपकुमार और हस्ती चिह्न युक्त दिक्कुमार निवास करते हैं। असुरकुमार के चमर और बली, नागकुमार के धरण और भूतानन्द, विद्युतकुमार के हरि और हरिसह, सुपर्णकुमार के वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमार के अग्निशिख और अग्निमानव, वायुकुमार के वेलम्ब व प्रभंजन, स्तनितकुमार के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमार के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमार के पूर्ण और अवशिष्ट एवं दिक्कुमार के अमित और अमितवाहन नामक दो-दो इन्द्र हैं। (श्लोक ५०४-५१४)

रत्नप्रभा भूमि के अवशिष्ट एक हजार योजन भूमि पर ऊपर और नीचे की ओर एक-एक सौ योजन छोड़कर मध्य के आठ सौ योजन के दक्षिणोत्तर श्रेणी के मध्य आठ प्रकार के व्यंतर देव रहते हैं। इनमें पिशाच व्यंतर कंदब वृक्ष के, भूत व्यंतर

सुलस वृक्ष के, यक्ष व्यंतर बट वृक्ष के, राक्षस व्यंतर खट्वां वृक्ष के, किन्नर व्यन्तर अशोक वृक्ष के, किम्पुरुष व्यन्तर चम्पक वृक्ष के, महोरग व्यन्तर नागवृक्ष के और गन्धर्व व्यन्तर तुम्बरु वृक्ष के चिह्न युक्त हैं। पिशाच व्यन्तरों के काल और महाकाल, भूत व्यन्तरों के सुरूप और प्रतिरूप, यक्ष व्यन्तरों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षस व्यन्तरों के भीम और महाभीम, किन्नर व्यन्तरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुष व्यन्तरों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग व्यन्तरों के अतिकाय और महाकाय एवं गन्धर्व व्यन्तरों के गीतरति और गीतयशा नामक इन्द्र हैं। इस प्रकार व्यन्तर देवों के सोलह इन्द्र हैं। (श्लोक ५१५-५२३)

रत्नप्रभा के अवशिष्ट एक सौ योजन के ऊपर-नीचे दस योजन छोड़कर मध्य के एक सौ योजन में व्यन्तर देवों के द्वितीय आठ निकाय व जातियां वास करती हैं। उनके नाम अप्रज्ञप्ति, पंचप्रज्ञप्ति, ऋषिवादित, भूतवादित, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पवक है। प्रत्येक के दो-दो इन्द्र हैं। उनके नाम क्रमशः संनिहित और समान, धातृ और विधातृक, ऋषि और ऋषि-पाल, ईश्वर और महेश्वर, सुवत्सक और विशालहास, हास और हासरति, श्वेत और महाश्वेत, पवन और पवकाधिप है।

(श्लोक ५२४-५२८)

रत्नप्रभा के ऊपर से दस कम आठ सौ योजन जाने पर ज्योतिष्क मण्डल मिलता है। पहले है तारा। तारा के दश योजन ऊपर सूर्य। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चाँद। चाँद के बीस योजन ऊपर ग्रह। इस प्रकार एक सौ दस योजन के मध्य ज्योतिर्लोक है। जम्बूद्वीप के मध्य मेरु पर्वत के ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर मेरु पर्वत को स्पर्श न करता हुआ मण्डलाकार में समस्त दिशाओं में व्याप्त ज्योतिष चक्र आवर्तित होता है। केवल एक ध्रुवतारा निश्चल है। वह ज्योतिष चक्र लोक के अन्तिम भाग में ग्यारह सौ ग्यारह योजन ऊपर लोकान्त को स्पर्श नहीं करता हुआ मण्डलाकार में स्थित है। नक्षत्रों में सबसे ऊपर स्वाति नक्षत्र और सबसे नीचे भरणी नक्षत्र है। एकदम दक्षिण में मूल नक्षत्र और एकदम उत्तर में अभिजित नक्षत्र है। (श्लोक ५२९-५३५)

इस जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। कालोदधि में ४२ चन्द्र और ४२ सूर्य हैं। पुष्करार्द्ध में ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य

हैं। इस प्रकार अढ़ाईद्वीप में एक सौ बत्तीस चन्द्र और एक सौ बत्तीस सूर्य हैं। इनमें प्रत्येक चन्द्र के अट्ठासी ग्रह, अट्ठासी नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोटा-कोटि तारों का परिवार है। चन्द्र विमान की लम्बाई और चौड़ाई एक योजन का एकसठवाँ भाग का छप्पनवाँ भाग परिमित (५६/६१) है। सूर्यविमान एकसठवें भाग का अड़तालीस भाग परिमित (४८/६१) है। ग्रहों के विमान अर्द्ध योजन के और नक्षत्रों के विमान एक कोस के हैं। सबसे उत्कृष्ट आयु तारा का विमान आधा कोस का है और सबसे जघन्य आयु युक्त तारा का विमान मात्र पाँच सौ धनुष का है। इस सब विमानों की उच्चता मर्त्यक्षेत्र की ऊपरी भाग की लम्बाई (४५ लाख योजन) का आधा है। उन सब विमानों के नीचे पूर्व की ओर सिंह, दक्षिण की ओर हस्ती, पश्चिम की ओर वृष और उत्तर की ओर अश्व है। वे चन्द्रादिका विमान के वाहन हैं। उनमें सूर्य और चन्द्र के वाहनभूत सोलह हजार आभियोगिक देवता हैं, ग्रहों के आठ हजार, नक्षत्रों के चार हजार और तारों के दो हजार हैं। चन्द्रादि के विमान स्व-स्वभाव से ही गतिशील हैं फिर भी विमान के नीचे आभियोगिक देव अभियोग्य (सेवा-नामकर्म) के लिए वाहन रूप में निरन्तर अवस्थित रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पचास-पचास हजार की दूरी पर सूर्य और चन्द्र स्थिर रहते हैं। उनके विमान मनुष्य क्षेत्र के चन्द्र-सूर्य के प्रमाण से अर्द्ध प्रमाण युक्त हैं। क्रमशः द्वीपों की परिधि के बढ़ जाने से उनकी संख्या बढ़ जाती है। समस्त लेश्यायुक्त ग्रह, नक्षत्र और तारों द्वारों सेवित असंख्य सूर्य और चन्द्र घण्टाकार में सुन्दर दिखते हैं। इस प्रकार रहते हुए स्वयंभूरमण समुद्र उनकी सीमा है और एक वा एक लक्ष योजन की दूरी पर तारा अपनी-अपनी पंक्ति में सर्वदा स्थिर रहते हैं। (श्लोक ५३६-५५१)

मध्यलोक में जम्बूद्वीप और लवण समुद्र आदि उत्कृष्ट नाम वाले और एक दूसरे से दुगुने असंख्य द्वीप और समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप को समुद्र घेरे हुए है। इसलिए वे वलयाकार हैं। उनमें स्वयंभूरमण महोदधि ही शेष व अन्तिम है। (श्लोक ५५२-५५३)

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में सुवर्णथाल की तरह मेरुपर्वत है। वह पृथ्वी के नीचे १ हजार योजन गहरा और ऊपर ९९ हजार योजन ऊँचा है। धरती पर उसका विस्तार दस हजार योजन और

ऊपर चूड़ा के निकट एक हजार योजन है। मेरुपर्वत जिस प्रकार तीन लोक (ऊर्ध्व, अधः और मध्य) में विस्तृत है उसी प्रकार तीन काण्ड में विभक्त है। सुमेरु पर्वत का प्रथम काण्ड शुद्ध पृथ्वी, पत्थर, हीरा और शर्करा से पूर्ण है। इसका प्रमाण एक हजार योजन है। दूसरा काण्ड त्रेसठ हजार योजन का है। वह जातिवान चांदी, स्फटिक, अङ्करत्न और सुवर्ण से पूर्ण है। तृतीय काण्ड छत्तीस हजार योजन का है। स्वर्ण शिलामय है और उसके ऊपर वैदूर्यमणि की चूलिका है। चूलिका की ऊँचाई ४० हजार योजन है। मूल में उसका विस्तार १२ योजन, मध्य में ८ योजन और ऊपरी भाग में चार योजन है। मेरुपर्वत की तलहटी में भद्रशाल नामक एक वन है। उसकी आकृति गोलाकार है। भद्रशाल वन से जब पांच सौ योजन ऊँचा चढ़ते हैं तब मेरुपर्वत की प्रथम मेखला मिलती है। उस पर पांच सौ योजन विस्तार वाला गोलाकार नन्दनवन है। इसके ऊपर साढ़े बासठ हजार योजन जाने पर द्वितीय मेखला पाई जाती है। तदुपरान्त इसी परिमिति का अर्थात् पांच सौ योजन विस्तारयुक्त सोमनस नामक तृतीय वन है। इस वन के ऊपर ३६ हजार योजन जाने पर तृतीय मेखला मिलती है। यह मेरु का शिखर है। यहां पाण्डुक नामक चतुर्थ सुन्दर वन है। यह ४९४ योजन विस्तार वाला है। उसका आकार वलयाकृति अर्थात् कंकण की तरह है। (श्लोक ५५४-५६५)

जम्बूद्वीप सात खण्डों में विभक्त है। उनके नाम भरत, हेमवन्त, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत हैं। उत्तर और दक्षिण में इस क्षेत्र को वर्षधर पर्वत विभक्त करता है। उनके नाम हिमवान, महाहिमवान, निषध, नीलवन्त, रुक्मी और शिखरी हैं। इन सब पर्वतों के विस्तार मूल और शिखर देश के समान हैं। इनमें प्रथम हिमवान नामक पर्वत २५ योजन जमीन के अन्दर अवस्थित है और स्वर्णमय है। वह १०० योजन ऊँचा है। द्वितीय महाहिमवान पर्वत गहराई और ऊँचाई में हिमवान से दुगुना और वह अर्जुन जातीय स्वर्ण द्वारा गठित है। तृतीय निषध पर्वत गहराई और ऊँचाई में महाहिमवान का दुगुना है। इसका वर्ण स्वर्ण-सा है। चतुर्थ नीलवंत पर्वत आकार में निषध पर्वत जैसा है और वैदूर्यमणि द्वारा रचित है। पंचम रुक्मी पर्वत रौप्यमय और आकार में महाहिमवान के समान है। षष्ठ

शिखरी पर्वत स्वर्णमय और आकार में हिमवान पर्वत के समान है। इन सब पर्वतों के पार्श्वभाग विचित्र प्रकार की मणियों से सुशोभित हैं। क्षुद हिमवान पर्वत के ऊपर एक हजार योजन लम्बा और पांच सौ योजन चौड़ा पद्म नामक एक वृहद् सरोवर है। महाहिमवान पर्वत पर महापद्म नामक एक सरोवर है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई पद्म सरोवर से दुगुनी है। निषध पर्वत पर तिगछी नामक एक सरोवर है जो महापद्म से दुगुना है। नीलवंत पर्वत पर केसरी नामक एक सरोवर है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई तिगंछी के बराबर है। रुक्मी पर्वत पर महापुंडरीक नामक एक सरोवर है। महापद्म की तरह ही उसकी लम्बाई-चौड़ाई है। शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक नामक एक सरोवर है। वह पद्मसरोवर की तरह ही लम्बा-चौड़ा है। इन पद्मादि सरोवर के जल के भीतर दस योजन गहरे विकसित कमल हैं। इन छह सरोवरों में क्रमशः श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक देवियां रहती हैं। उनकी आयु पल्योपम की है। इन देवियों के पास तीन सामानिक देव, पर्षदा के देव, आत्म-रक्षक देव और सेना है।

(श्लोक ५६६-५७८)

भरत क्षेत्र में गंगा और सिंधु नामक दो नदियां हैं। हेमवन्त क्षेत्र में रोहिता और रोहिताशा है। इसी प्रकार हरिवर्ष क्षेत्र में हरिसलिला और हरिकांता है। महाविदेह में सीता और सीतोदा, रम्यक क्षेत्र में नरकांता और नारीकांता, हैरण्यवत क्षेत्र में स्वर्णकूला और रौप्यकूला व ऐरवत क्षेत्र में रक्ता और रक्तवती नामक दो नदियां हैं। इनमें प्रथम नदी पूर्व समुद्र में और द्वितीय नदी पश्चिम समुद्र में गिरती है। गंगा और सिन्धु नदी में प्रत्येक के १४ हजार नदी-नालाओं का परिवार है। सीता और सीतोदा के अतिरिक्त प्रत्येक युग्म नदी में पहले की अपेक्षा दुगुनी नदियां और नालों का परिवार है। उत्तर की नदी भी दक्षिण की नदी की तरह ही शाखा नदी विशिष्ट है। शीता और शीतोदा नदियां पांच लाख बत्तीस हजार नदी-नालों से विशिष्ट है। (श्लोक ५७८-५८०)

भरत क्षेत्र विस्तार में पांच सौ छब्बीस योजन और योजन का उन्नीस भाग करने पर उसके छह भाग जितने होते हैं अर्थात् ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है। अनुक्रम से दुगुने-दुगुने विस्तार युक्त पर्वत और क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र पर्यन्त अवस्थित हैं। उत्तर की ओर के

वर्षधर पर्वत और क्षेत्र एवं दक्षिण दिशा के वर्षधर पर्वत और क्षेत्र समान प्रमाणयुक्त है। इसी भांति समस्त वर्षधर पर्वत और क्षेत्रों का परिमाण समझ लेना चाहिए। निषधाद्रि की उत्तर दिशा और मेरु की दक्षिण दिशा में विद्युत्प्रभ और सौमनस नामक दो पर्वत पूर्व और पश्चिम में अवस्थित है। इनकी आकृति हाथी दाँत की तरह है। इनका अन्तिम भाग मेरुपर्वत से कुछ दूर रहता है। उसे स्पर्श नहीं करता। इन दोनों के मध्य देवकुरु नामक युगलियों का क्षेत्र है। इसका विष्कम्भ अर्थात् विस्तार ग्यारह हजार आठ सौ बयालीस योजन है। देवकुरु क्षेत्र में सीतोदा नदी के निकट पांच द्रह हैं। इन पाँचों द्रहों के दोनों ओर दस-दस सुवर्ण पर्वत हैं। इन सबको मिलाने पर सोने के सौ पर्वत होते हैं। देवकुरु की सीतोदा नदी के पूर्व और पश्चिम तट पर चित्रकूट और विचित्रकूट नामक दो पर्वत हैं। उनमें प्रत्येक की ऊँचाई एक हजार योजन है। भूमि पर इनका विस्तार भी एक हजार योजन है। शिखर का विस्तार इसका आधा अर्थात् पांच सौ योजन है। मेरु के उत्तर में और नीलवन्त गिरि के दक्षिण में गन्धमादन और माल्यवान पर्वत हैं। इनका आकार भी हाथी दाँत की तरह है। उन दोनों पर्वतों के मध्य सीता नदी से अलग पांच द्रह हैं। उनके दोनों ओर दस-दस सुवर्ण पर्वत रहने से कुल एक सौ पर्वत हैं। इससे उत्तर कुरु क्षेत्र बहुत सुन्दर लगता है। सीता नदी के दोनों तट पर यमक नामक दो सोने के पर्वत हैं। उनका विस्तार चित्रकूट और विचित्रकूट की तरह है। देवकुरु और उत्तरकुरु के पूर्व में पूर्व विदेह और पश्चिम में अपर विदेह है। वे परस्पर क्षेत्रान्तर की भांति हैं। ये दोनों विभाग संचार रहित (यातायात रहित) हैं और नदी-पर्वतों में विभाजित चक्रवर्ती के जय करने योग्य सोलह विजय या प्रान्त है। इनमें कच्छ, महाकच्छ, सुकच्छ, कच्छवान, आवर्त्त, मंगलावर्त्त, पुष्कल और पुष्कलवती ये आठ विजय पूर्व महाविदेह के उत्तर में अवस्थित हैं। वत्स, सुवत्स, महावत्स, रम्यवान, रम्य, रम्यक, रमणीय और मंगलावती ये आठ विजय दक्षिण में अवस्थित हैं। पद्म, सुपद्म, महापद्म, पद्मावती, शङ्ख, कुमुद, नलिन और नलिनावती ये आठ विजय पश्चिम महाविदेह के दक्षिण में अवस्थित हैं। वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रावती, वलगु, सुवलगु, गन्धिल और गन्धिलावती ये आठ विजय उत्तर में अवस्थित हैं। (श्लोक ५८१-६०४)

भरतखण्ड के मध्य दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध को अलग करने वाला वैताढ्य पर्वत अवस्थित है। वह पर्वत पूर्व और पश्चिम में समुद्र पर्यन्त विस्तृत और भू-गर्भ में छह योजन एक कोस निहित है। इसका विस्तार पचास योजन और ऊँचाई पच्चीस योजन है। पृथ्वी से दस योजन ऊपर जाने पर दक्षिण और उत्तर में दस-दस योजन फैली विद्याधरों की दो श्रेणियाँ हैं। उनमें से दक्षिण श्रेणी में विद्याधर राष्ट्र सहित पचास नगर हैं और उत्तर श्रेणी में साठ नगर हैं। विद्याधर श्रेणी के और दस योजन ऊपर उतने ही विस्तार वाली व्यन्तर निवासों की दो श्रेणियां अवस्थित हैं। इस व्यन्तर श्रेणी के पांच योजन ऊपर नौ कूट हैं। इसी प्रकार ऐरवत क्षेत्र में भी वैताढ्य पर्वत है। (श्लोक ६०५-६१०)

जम्बूद्वीप के चारों ओर दुर्ग की तरह आठ योजन ऊँची वज्रमयी प्राकार है। वह प्राकार मूल में बारह योजन, मध्य भाग में आठ योजन और ऊपर चार योजन है। इसके ऊपर जाल कटक है। जाल कटक दो कोस ऊँचा है। वहां विद्याधरों का अद्वितीय मनोहर क्रीड़ास्थल है। इस जाल कटक के ऊपर भी देवताओं की भोग भूमि रूप पद्मवरा नामक एक सुन्दर बेदी है। उस प्राकार के पूर्वादि दिशाओं में अनुक्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार द्वार हैं। (श्लोक ६११-६१५)

क्षुद्र हिमवान और महाहिमवान पर्वत के मध्य अर्थात् हिमवन्त क्षेत्र में शब्दापाती नाम वृत्त वैताढ्य पर्वत है। शिखरी और रूक्मी पर्वत के मध्य विकटापाती नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत है। महाहिमवान और निषध पर्वत के मध्य गन्धापाती नामक वृत्त वैताढ्य और नीलवन्त एवं रूक्मी पर्वत के मध्य माल्यवान नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत है। ये सब वृत्त वैताढ्य पर्वत पल्याकृति और एक हजार योजन ऊँचे हैं। (श्लोक ६१६-६१८)

जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है। इसका विस्तार जम्बूद्वीप से दुगुना है। यह मध्य में एक हजार योजन गहरा है। दोनों ओर के तटों से क्रमशः उतरते हुए १५ योजन पर्यन्त गहराई में और ऊँचाई में इसका जल बढ़ता रहता है। मध्य भाग के दस हजार योजन में सोलह हजार योजन ऊँची लवण समुद्र की तरंगें हैं। इस पर दिन में दो बार ज्वार-भाटा आता है। ज्वार का जल दो कोस पर्यन्त बढ़ जाता है। इस लवण-समुद्र में पूर्वादि

दिशा में क्रमशः बड़वामुख, केयूप, यूप और ईश्वर नामक चार बड़े मृत्पात्र के आकार के पाताल-कलश हैं। इनमें प्रत्येक के मध्य भाग एक लाख योजन चौड़े हैं। इनकी गहराई भी एक लाख योजन है। इनकी चादर वज्र रत्नों की है जो एक हजार योजन मोटी है। ये नीचे और ऊपर से दस हजार योजन चौड़े हैं। इनके तीन भाग के एक भाग में वायु और दो भाग में जल रहता है। इनका आकार कण्ठ-विहीन वृहद् भाण्ड की तरह है। उस भाण्ड में काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभंजन नामक देव अनुक्रम से निज-निज क्रीड़ा स्थान में अवस्थान करते हैं। इन चार पाताल कलशों में एक कलश से द्वितीय कलश की दूरी के मध्यवर्ती स्थान में सात हजार आठ सौ चौरासी छोटे कलशे हैं। वे जमीन से एक हजार योजन गहरे हैं और मध्य भाग में चौड़े हैं। उनकी चादर दस योजन मोटी और ऊपर एवं नीचे का भाग एक सौ योजन चौड़ा है। इनके मध्य भाग का वायु मिश्रित जल उछलता रहता है। इस समुद्र की तरंग को धारण करने वाले बयालीस हजार नागकुमार देवरक्षक की तरह सर्वदा वहाँ अवस्थित रहते हैं। बाहरी तरंगों को धारण करने वाले बहत्तर हजार देव और मध्य में दो कोस पर्यन्त उछलती तरंगों को शमन करने वाले साठ हजार देवता हैं। उस लवण समुद्र में गोस्तूप, उद्काभास, शंख और उदकसीम नामक अनुक्रम से सुवर्ण, अंक रत्न, चाँदी और स्फटिक के चार वेलंधर पर्वत हैं। वहाँ गोस्तूप, शिवक, शंख और मनोह्रद नामक चार देवता रहते हैं। बयालीस हजार योजन समुद्र में जाने पर चारों ओर यही चार पर्वत अवस्थित हैं। इसी प्रकार चारों विदिशाओं में कर्कोटक, कार्दमक, कैलाश और अरुणप्रभ नामक चार सुन्दर अनुवेलंधर पर्वत हैं। ये सब रत्नमय हैं। उन पर्वतों पर कर्कोटक, विद्युज्जिह्व, कैलाश और अरुणप्रभ नामक देव जो कि उनके अधिपति हैं सर्वदा निवास करते है। उन पर्वतों में प्रत्येक एक हजार सात सौ इक्कीस योजन ऊँचा और मूल में एक हजार योजन और शिखर पर चार सौ चौबीस योजन चौड़ा है। इन सभी पर्वतों पर उनके देवों के सुन्दर प्रासाद हैं। तदुपरान्त बारह हजार योजन समुद्र की ओर जाने पर पूर्व दिशा से सम्बन्धित दोनों विदिशाओं में दो चन्द्र द्वीप हैं। वे विस्तार और चौड़ाई में पूर्वानुरूप हैं और

उसी आकृति के दो सूर्यद्वीप पश्चिम दिशा से सम्बन्धित दोनों विदिशाओं में हैं। सुस्थिर देवताओं का आश्रयभूत गौतम द्वीप ठीक उनके मध्य में अवस्थित है। लवण समुद्र सम्बन्धित शिखा के इधर की ओर एवं बाहर की तरफ चलमान चन्द्र और सूर्य के आश्रयरूप द्वीप है। उन पर उनके प्रासाद अवस्थित हैं। यह लवण समुद्र लवण-रसयुक्त है। (श्लोक ६१९-३९)

लवण समुद्र के चारों ओर इसके दुगुने विस्तार वाले धातकी खण्ड हैं। जम्बूद्वीप में जितने मेरुपर्वत, क्षेत्र और वर्षधर पर्वत हैं उनसे दुगुने और उसी नाम के धातकी खण्ड में है। एकदम उत्तर और दक्षिण में धातकी खण्ड के प्रस्थानुरूप धनुषाकार पर्वत है। उनके द्वारा विभाजित पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध के प्रत्येक में जम्बूद्वीप के समान संख्यायुक्त क्षेत्र और पर्वत है। इसी धातकी खण्ड में चक्र के आरे की तरह आकार वाला और निषध पर्वत की तरह ऊँचा कालोदधि और लवण समुद्र को स्पर्श करता हुआ धनुषाकार वर्षधर पर्वत हैं। क्षेत्र के परिमाण आरे के दूरत्व के समान है। (श्लोक ६४०-४३)

धातकी खण्ड के चारों ओर कालोदधि समुद्र है। इसका विस्तार ८ लाख योजन है। इसके चारों ओर पुष्करवर द्वीपार्द्ध ठीक उसी आकार का है। धातकी खण्ड में धनुषाकार पर्वत सहित मेरु आदि की जो संख्या बतायी गयी है पुष्करार्द्ध भी ठीक उसी तरह का है। पुष्करार्द्ध में क्षेत्रादि का आकार धातकी खण्ड के क्षेत्रादि के आकार का दुगुना है। धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध मिलाकर चार छोटे मेरु पर्वत हैं। वे जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से पन्द्रह हजार योजन कम ऊँचे और छह सौ योजन कम विस्तार वाले हैं। इनके प्रथम काण्ड महामेरु की तरह, द्वितीय काण्ड सात हजार योजन कम और तृतीय काण्ड आठ हजार योजन कम है। इनमें भद्रशाल और नन्दन वन मुख्य मेरु के समान हैं। नन्दन वन से साढ़े पचपन हजार योजन जाने पर सोमनस नामक वन पाया जाता है। सोमनस पाँच सौ योजन बड़ा है। वहाँ से अट्ठाईस हजार योजन जाने पर पाण्डुक वन मिलता है। वह चूलिका के चारों ओर चार सौ चौरानवे योजन विस्तार युक्त है। इसके ऊपर और नीचे का विस्तार और अवगाहन महामेरु की

तरह ही है। इस प्रकार मुख्य मेरु के समान प्रमाण युक्त चूलिका मध्य मेरु में है। (श्लोक ६४४-५२)

इस प्रकार मनुष्य क्षेत्र में अढाई द्वीप हैं। दो समुद्र, पंतीस क्षेत्र, पाँच मेरु, तीन वर्षधर पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु और एक सौ साठ विजय हैं। पुष्करार्द्ध द्वीप के चारों ओर मानुषोत्तर नामक पर्वत है। वह मनुष्य लोक के बाहर नगर की प्राकार की तरह गोलाकार है। मानुषोत्तर पर्वत सोने का है और अवशेष पुष्करार्द्ध में सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा और चार सौ तीस योजन पृथ्वी के अन्दर अवस्थित है। मूल का विस्तार एक हजार बाईस योजन है, मध्य का विस्तार सात सो तेईस योजन और ऊपरी विस्तार चार सौ चौबीस योजन है। उस मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य का जन्म व मृत्यु नहीं होती। इसीलिए उसका नाम है मानुषोत्तर पर्वत। इसकी बाहरी भूमि पर अग्नि, मेघ, विद्युत, नदी, काल आदि नहीं होते। इस मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की ओर ५६ अन्तर्द्वीप और ३५ क्षेत्र हैं। इनमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। संहार विद्या के बल से या लब्धि योग से मेरु पर्वत आदि के शिखर पर, अढ़ाई द्वीप में और दोनों समुद्रों में मनुष्य जा सकता है। इनके भीतर भरत सम्बन्धित, जम्बूद्वीप सम्बन्धित और लवण समुद्र सम्बन्धित इसी भाँति समस्त क्षेत्र द्वीप और समुद्र सम्बन्धित सज्ञा भेद से पृथक्-पृथक् विभाग कहे जाते हैं। अर्थात् भरत जम्बूद्वीप और लवण समुद्र सम्बन्धित समस्त नाम, क्षेत्र, द्वीप और समुद्रों के विभाग हैं। (श्लोक ६५३-६६३)

मनुष्य दो प्रकार के हैं: आर्य और म्लेच्छ। क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, और भाषा-भेद से आर्य छह प्रकार के हैं। क्षेत्र आर्य पन्द्रह कर्म भूमि में उत्पन्न होते हैं। उनमें भरतक्षेत्र के साढ़े पच्चीस देशों में जो जन्म ग्रहण करते हैं वे आर्य हैं। ये आर्य देश, स्व नगरियों द्वारा इस प्रकार परिचित हैं—(१) राजगृह नगरी से मगध देश (२) चम्पा नगरी से अंग देश (३) ताम्रलिप्ति से बंग देश (४) वाराणसी से काशी देश (५) कञ्चनपुरी से कलिंग देश (६) साकेतपुरी से कोशल देश (७) हस्तिनापुर से कुरु देश (८) शौर्यपुरी से कुशार्त देश (९) काम्पिल्यपुरी से पांचाल देश (१०) अहिछत्रपुरी से जांगल देश (११) मिथिलापुरी से विदेह देश (१२)

द्वारावती से सौराष्ट्र देश (१३) कौशाम्बीपुरी से वत्स देश (१४) भद्रिलपुरी से मलय देश (१५) नान्दीपुरी से सन्दर्भ देश (१६) पुनरुच्छापुरी से वरुण देश (१७) वैराट नगरी से मत्स्य देश (१८) शुक्तिमती नगरी से चेदी देश (१९) मृत्तिकावती नगरी से दशार्ण देश (२०) वीतभयपुरी से सिन्धु देश (२१) मथुरापुरी से सौवीर देश (२२) अपापापुरी से शूरसेन देश (२३) भंगीपुरी से भासपुरिवत देश (२४) श्रावस्ती नगरी से कुणाल देश (२५) कोटिवर्षपुरी से लाट देश (२६) श्वेताम्बीपुरी से केतकार्द्ध देश। ये साढ़े पच्चीस देश इसी भाँति नगरी के नाम से परिचित हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती वासुदेव और बलभद्र का जन्म इन्हीं देशों में होता है। इक्ष्वाकुवंश, ज्ञातवंश, विदेहवंश, कुरुवंश, उग्रवंश, भोजवंश और राजन्यवंश आदि कुल में उत्पन्न मनुष्य को आर्य जाति का कहा जाता है। कुलकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलभद्र और उनके तृतीय, पंचम एवं सप्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य कुल आर्य हैं। पूजा करना-कराना, शास्त्र पढ़ना-पढ़ाना आदि शुभ कर्मों से जो जीविका का निर्वाह करते हैं वे कर्म आर्य हैं। अल्प पापयुक्त व्यवसाय जैसे तांती, दर्जी, कुम्भकार, नापित और पुजारी आदि को शिल्प आर्य कहा जाता है। जो उच्च भाषा के नियमयुक्त वर्ण में पूर्वोक्त प्रकार के आर्यों के व्यवहार की भाषा बोलते हैं वे भाषा आर्य हैं। (श्लोक ६६४-६७८)

शक, यवन, शबर, बर्बर, काया, मुण्ड, उड्र, गोड्र, पत्कणक, अरपाक हूण, रोमक, पारसी, खस, खासिक, डोम्बलिक, लकुस, भील, अन्ध्र, बुक्कस, पुलिन्द, क्रौंचक, भ्रमररुत, कुंच, चीन, वंचुक, मालव, द्रविड़, कुलंश, किरात, कैकय, हयमुख, गजमुख, तुरगमुख, अजमुख, हयकर्ण, गजकर्ण आदि और भी अनार्य भेद हैं। जो धर्म इन अक्षरों तक को नहीं जानते, धर्म-अधर्म को पृथक् नहीं समझते वे सभी म्लेच्छ कहलाते हैं। (श्लोक ६७९-६८३)

अन्य अन्तर्द्वीपों में भी मनुष्य रहते हैं। वे भी धर्म-अधर्म को नहीं समझते। कारण, वे युगलिक होते हैं। इस प्रकार छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। उनमें अट्ठाइस द्वीप क्षुद्र हिमालय पर्वत के पूर्व और पश्चिम दिशा के शेष भाग में ईशान कोणादि चारण विदिशाओं में लवण समुद्र में वहिर्गत अंश पर अवस्थित हैं। ईशान कोण में जम्बूद्वीप के भू-भाग से ३०० योजन लवण-समुद्र में जाने से वहां उतना ही लम्बा-चौड़ा एकोरू नामक प्रथम अन्तर्द्वीप है। उस द्वीप

में उसी नाम से परिचित सर्वांग सुन्दर मनुष्य रहते हैं। केवल एकोरू द्वीप में ही नहीं अन्य समस्त अन्तर्द्वीपों में उन्हीं द्वीपों के नाम से परिचित मनुष्य रहते हैं। अग्निकोण आदि तीन अवशिष्ट विदिशाओं में इतने ही ऊँचे, इतने ही लम्बे और चौड़े आभाषिक, लांगूलिक और वैषाणिक नाम के क्रमानुसार द्वीप है। तदुपरान्त भू-भाग से चार सौ योजन जाने पर लवण-समुद्र में इतने ही लम्बे-चौड़े ईशान आदि विदिशाओं में क्रमानुसार हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण और शष्कुलीकर्ण नामक चार अन्तर्द्वीप हैं। उसके बाद भू-भाग से पाँच सौ योजन जाने पर इतने ही लम्बे-चौड़े ईशान आदि विदिशाओं में क्रमानुसार आदर्शमुख, मेषमुख, हयमुख और गजमुख नामक चार अन्तर्द्वीप है। तदुपरान्त भू-भाग से छः सौ योजन जाने पर इतने ही लम्बे-चौड़े अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख अन्तर्द्वीप हैं। इससे आगे सात सौ योजन जाने पर इतना ही लम्बा, इतना ही चौड़ा, अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, हस्तिकर्ण और कर्णप्रावरण नामक अन्तर्द्वीप है। इससे आगे आठ सौ योजन पर इतना ही लम्बा-चौड़ा उल्कामुख, विद्युतजिह्वा, मेषमुख और विद्युतदंत नामक चार अन्तर्द्वीप ईशानादि विदिशाओं में क्रमानुसार अवस्थित है। उसके बाद जगती से लवणोदधि में नौ सौ योजन जाने पर उतनी ही लम्बाई-चौड़ाई वाला गूढ़दन्त, घनदन्त, श्रेष्ठदन्त और शुद्धदन्त नामक चार अन्तर्द्वीप ईशानादि विदिशाओं में क्रम से हैं। इस भांति शिखरी पर भी अट्ठाईस द्वीप हैं। सब मिलाकर छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। (श्लोक ६८४-७००)

मानुषोत्तर पर्वत के पश्चात् है द्वितीय पुष्करार्द्ध। पुष्करार्द्ध के चारों ओर समग्र द्वीपों से दुगुना पुष्करोदक समुद्र है। फिर है वारुणीवर नामक द्वीप और समुद्र। इसके बाद है क्षीरवर नामक द्वीप और समुद्र। और उसके आगे घृतवर नामक द्वीप और समुद्र। फिर है इक्षुवर नामक द्वीप और समुद्र। फिर स्वर्ग के समान अष्टम नन्दीश्वर द्वीप जो वृत्त और विस्तार में एक सौ त्रेसठ कोटि चौरासी लाख योजन है। यह द्वीप अनेक उद्यानों से पूर्ण और देवताओं की क्रीड़ा-भूमि तुल्य है। प्रभु पूजा के उत्साही देवगणों के आने-जाने से यह द्वीप और भी सुन्दर हो गया है। इसके मध्य भाग में पूर्वादि की ओर अनुक्रम से अंजन जैसा वर्णयुक्त अंजन पर्वत है। वह पर्वत नीचे की ओर दस हजार योजन से

कुछ अधिक विस्तारयुक्त है और ऊपर एक हजार योजन विस्तृत है। इस प्रकार यह क्षुद्र के समान (अर्थात् पचासी हजार योजन) ऊँचा है। इसके पूर्व में देवरमण, दक्षिण में नित्योद्योत, पश्चिम में स्वयंप्रभ नामक और उत्तर में रमणीय नाम के चार अजनाचल हैं। इन प्रत्येक पर्वतों पर एक सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और बहत्तर योजन ऊँचा अर्हत् भगवान का चैत्य है। प्रत्येक चैत्य के चार-चार द्वार हैं। प्रत्येक द्वार सोलह योजन ऊँचे हैं। प्रवेश में आठ योजन और विस्तार में भी आठ योजन हैं। उनके द्वार वैमानिक, असुरकुमार, नागकुमार और सुवर्णकुमारों के आश्रय रूप हैं और उनके नाम से ही वे प्रसिद्ध हैं। उन चारों द्वारों के मध्य में सोलह योजन लम्बी, सोलह योजन चौड़ी और आठ योजन ऊँची एक मणिपीठिका के ऊपर सर्व रत्नमय देव छन्दक है। वे विस्तार और उच्चता में पीठिका से बड़े हैं। प्रत्येक देवछन्दक पर ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण ये चार नाम के पर्यंकासन में बैठे स्व-परिवार सहित रत्नमय शाश्वत अर्हंतों की एक सौ आठ सुन्दर प्रतिमा हैं। हरेक प्रतिमा के साथ परिवार के समान दो-दो नाग, यक्ष, भूत और कुण्डधारी देवों की प्रतिमाएँ हैं। दोनों ओर दो चँवरधारिणी प्रतिमाएँ हैं और प्रत्येक प्रतिमा के पीछे एक-एक छत्रधारिणी प्रतिमा है। प्रत्येक प्रतिमा के सम्मुख धूपदानी, माला, घण्टा, अष्ट मंगलीक, ध्वज, छत्र, तोरण, चंगेरी, अनेक पुष्पपात्र, आसन, सोलह पूर्ण कलश और अन्य अलंकार हैं। वहाँ की नीचे की जमीन में स्वर्ण की सुन्दर रजवाली रेत है। आयतन के समान ही उनके सम्मुख मुख्य मण्डप, प्रेक्षा मण्डप, अक्ष वाटिका और मणिपीठिका है। वहाँ रमणीय स्तूप प्रतिमा है, सुन्दर चैत्य वृक्ष और इन्द्रध्वज हैं और अंजनादि के चारों ओर लाख योजन प्रमाण वाली वापिकाएँ, यानि कुल सोलह वापिकाएँ हैं। जैसे—नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूपा, सुदर्शना, नन्दोत्तरा, नन्दा, सुनन्दा, नन्दिवर्द्धना, भद्रा, विशाला, कुमुदा, पुण्डरीकिणिका, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता। उन प्रत्येक वापिका से पाँच सौ योजन दूर अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नामक चार वृहद् उद्यान हैं। वे पाँच सौ योजन चौड़े और एक लाख योजन लम्बे हैं। प्रत्येक वापिका में स्फटिकमणि की पल्याकृति विशिष्ट सुन्दर

वेदिका और उद्यान से सुशोभित दधिमुख पर्वत हैं। वे प्रत्येक पर्वत चौसठ हजार योजन ऊँचे, एक हजार योजन गहरे और दस हजार योजन ऊपर और दस हजार योजन नीचे विस्तार वाला है। वापिका के मध्यवर्ती स्थान में दो-दो रतिकर पर्वत हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। दधिमुख पर्वत और रतिकर पर्वत पर अंजनगिरि की तरह शाश्वत अर्हतों के चैत्य हैं। उन द्वीपों की विदिशाओं में अन्य चार रतिकर पर्वत हैं। वे प्रत्येक दस हजार योजन लम्बे और चौड़े, एक हजार योजन ऊँचे सुशोभित सर्वरत्नमय दिव्य एवं झालर की आकार वाले हैं। (श्लोक ७०१-७३१)

उनके दक्षिण में सौधर्मेन्द्र के दो रतिकर पर्वत हैं और उत्तर में ईशानेन्द्र के दो रतिकर पर्वत हैं। इन प्रत्येक की आठों दिशाओं में और विदिशाओं में प्रत्येक इन्द्र की आठ-आठ महादेवियों की आठ-आठ राजधानियाँ हैं। इस प्रकार बत्तीस राजधानियाँ हैं। वे रतिकर से एक लाख योजन दूर, एक लाख योजन लम्बे-चौड़े और जिनालयों से विभूषित हैं। उनके नाम सुजाता, सोमनसा, अर्चिमाली, प्रभाकरा, पद्मा, शिवा, शुची, व्यंजना, भूता, भूतवतंसिका, गोस्तूपा, सुदर्शना, अम्ला, अप्सरा, रोहिणी, नवमी, रत्ना, रत्नोचया, सर्वरत्ना, रत्नसंचया, वसु, वसुमित्रिका, वसुभागा, वसुन्धरा, नन्दोत्तरा, नन्दा, उत्तरकुरु, देवकुरु, कृष्णा, कृष्णराजी, रामा और रामरक्षिता हैं। पूर्व दिशा में भी क्रमानुसार यही नाम हैं। इस नन्दीश्वर द्वीप के जिन-चैत्यों में समस्त प्रकार के ऋद्धि सम्पन्न देवता परिवार सहित अर्हतों की कल्याणक तिथि के दिन अष्टाह्निका उत्सव करते है। (श्लोक ७३२-७३८)

नन्दीवर द्वीप के चारों ओर नन्दीश्वर समुद्र है। फिर अरुण द्वीप और इसके चारों ओर अरुणोदधि समुद्र है। इससे आगे अरुणाभास द्वीप और अरुणाभास समुद्र है। फिर कुण्डल द्वीप एवं कुण्डलोदधि नामक समुद्र हैं। फिर रूचक नामक द्वीप और समुद्र है। इस प्रकार प्रशस्त नामक युक्त और पिछले से आगे वाला द्विगुण आकार विशिष्ट द्वीप और समुद्र अनुक्रम से वर्त्तमान है। सबसे बाद में स्वयंभूरमण नामक अन्तिम समुद्र है।

(श्लोक ७३९-७४२)

पूर्वोक्त अढ़ाई द्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु के समान भाग के अतिरिक्त पांच महाविदेह, पांच भरत और पांच ऐरवत इस प्रकार पन्द्रह कर्म भूमियां हैं। कालोदधि, पुण्डरोदधि और स्वयंभू-रमण ये तीन समुद्र मीठे पानी के हैं, लवण समुद्र का जल नमकीन है। वरुणोदधि का जल विचित्र प्रकार की मनोहर मदिरा-सा है। क्षीरोदधि शर्करा मिश्रित घी का चतुर्थ भाग जिसमें रहता है ऐसे गाय के दूध-सा जल वाला है। घृतवर समुद्र का जल गाय के गर्म घी के जैसा है। इक्षुवर समुद्र इलायची, केशर और गोल मिर्च चूर्ण मिश्रित चतुर्थ भाग इक्षुरस के समान है। लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण ये तीन समुद्र मत्स्य और कच्छपों से परिपूर्ण हैं, अन्य नहीं। (श्लोक ७४३-७४७)

जम्बूद्वीप में कम से कम तीर्थंकर चक्रवर्ती वसुदेव बलदेव चार-चार होते हैं एवं उत्कृष्ट रूप में चौंतीस तीर्थंकर होते हैं और तीस चक्रवर्ती या वसुदेव होते हैं। धातकीखण्ड में पुष्करार्द्ध के दुगुने होते हैं। (श्लोक ७४८७-४९)

इस तिर्यक लोक के नौ नौ योजन सात रज्जू ऊपर महाऋद्धि सम्पन्न ऊर्ध्वलोक है। इसके मध्य सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, शुक्र, सहस्रार, आणत, प्रणत, आरण और अच्युत नामक बारह कल्प अर्थात् देवलोक है और सुदर्शन, सुप्रबुद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमन, सौमनस, प्रीतिकर और आदित्य नामक नौ ग्रैवेयक है, इससे ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं। इनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध है। इनमें पूर्व के चार पूर्व-दिशा से क्रमानुसार चारों दिशाओं में है। सर्वार्थसिद्ध विमान सबके मध्य में है। इसके बारह योजन ऊपर सिद्धशिला है। सिद्धशिला लम्बाई और चौड़ाई में पैंतालीस लाख योजन की है। सिद्धशिला के ऊपर तीन कोस के बाद चतुर्थ कोस के षष्ठ भाग के लोकाग्र पर्यन्त सिद्ध जीव रहते है। यह ऊर्ध्वलोक संभूतला पृथ्वी से सौधर्म और ईशान कल्प पर्यन्त डेढ़ राजलोक, सनत्कुमार और महेन्द्रलोक पर्यन्त अढ़ाई राजलोक, सहस्रार देवलोक पर्यन्त पंचम राजलोक, अच्युत देवलोक पर्यन्त षष्ठ राजलोक और लोकान्तर पर्यन्त सप्तम राजलोक है। सौधर्म कल्प और ईशान कल्प चन्द्रमण्डल की तरह वर्तुलाकार है। सौधर्म देवलोक दक्षिणार्द्ध में और ईशान

देवलोक उत्तरार्द्ध में अवस्थित है। सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक भी उन्हीं की आकृति युक्त है। सनत्कुमार देवलोक दक्षिणार्द्ध में और महेन्द्र देवलोक उत्तरार्द्ध में अवस्थित है। लोक पुरुष के कोनीवाले भाग में और ऊर्ध्वलोक के मध्य भाग में ब्रह्म-देवलोक हैं। ब्रह्मेन्द्र इसके अधिपति हैं। इसी देवलोक के अन्तिम भाग में सारस्वत, आदित्य, अग्नि, अरुण, गर्दतोभ, तुषित, अव्याबाध, मरुत और रिष्ट इन नौ जाति के लोकान्तिक देव रहते हैं। इसके ऊपर लान्तक देवलोक है। यहाँ के इन्द्र का नाम तेज है। इसके ऊपर महाशुक्र देवलोक है। यहाँ भी तेज नामक इन्द्र रहते हैं। इसके ऊपर सौधर्म और ईशान देवलोक की आकृति युक्त आनत और प्राणत देवलोक हैं। इनमें प्राणत कल्प में प्राणत नामक इन्द्र रहते हैं। वे इन दोनों कल्पों के अधिपति हैं। इसके ऊपर ऐसी ही आकृति वाले आरण और अच्युत देवलोक हैं। अच्युत देवलोक के अच्युत नामक इन्द्र इन देवलोकों के अधिपति हैं। ग्रैवेयक और अनुत्तर में अहमिन्द्र नामक देव रहते हैं। प्रथम दोनों देवलोक घनोदधि के ऊपर हैं, परवर्ती तीन देवलोक वायु के ऊपर। इसके बाद के तीन देवलोक धनवात और तनुवात के ऊपर हैं। इनके पश्चात् के समस्त देवलोक आकाश पर अवस्थित हैं। इनमें इन्द्र सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पार्षद, अङ्गरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्ण, आभियोगिक और किल्विषक नामक दस प्रकार के देवता रहते है। सामानिक आदि समस्त देवताओं के जो अधिपति हैं वे इन्द्र नाम से अभिहित हैं। इन्द्र के समान ऋद्धि सम्पन्न होने पर भी जो इन्द्र नहीं हैं उन्हें सामानिक कहा जाता है। जो इन्द्र के मन्त्री और पुरोहित तुल्य हैं वे त्रायस्त्रिंश देवता हैं। जो इन्द्र के मित्र हैं वे पार्षद हैं। जो इन्द्र की रक्षा करते हैं वे आत्म-रक्षक देव हैं। देवलोक की रक्षा करने के कारण जो रक्षक बनकर घूमते हैं वे लोकपाल हैं। जो सैनिक का कार्य करते हैं वे अनीक हैं। जो प्रजापुंज की तरह होते है उन्हें प्रकीर्ण देव कहा जाता है। जो सेवक का कार्य करते हैं वे आभियोगिक देवता हैं। जो चण्डाल जाति की तरह हैं वे किल्विषक देव हैं। ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव नहीं होते। (श्लोक ७५०-७७५)

सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख विमान हैं। ईशान कल्प में

अट्ठाईस लाख, सनत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख, ब्रह्म देव लोक में चार लाख, लान्तक देवलोक में पचास हजार शुक्र में चालीस हजार, सहस्रार में छः हजार नवम् और दशवें में चार सो आरण और अच्युत देवलोक में तीन सौ विमान हैं। प्रारम्भ के तीन ग्रैवेयक में एक सौ ग्यारह विमान अवस्थित हैं। अनुत्तर विमान मात्र पाँच हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान है। (श्लोक ७७५-७८०)

अनुत्तर विमान के चार विजयों के विमानों में द्विचरिम (दो जन्म के पश्चात् मोक्ष जाने वाले) देव रहते हैं और पंचम सर्वार्थ सिद्ध विमान में एक चरिम देवता रहते है। सौधर्म देवलोक से सर्वार्थसिद्धि विमान तक के देवों की स्थिति, कान्ति, प्रभाव, लेश्या, विशुद्धि, सुख, इन्द्रिय विषय और अवधिज्ञान पूर्वों की अपेक्षा बाद वालों में अधिक से अधिक होती जाती है। परिग्रह, अभिमान, शरीर और गति क्रिया अनुक्रम से कम होती है। सबसे जघन्य स्थितियुक्त देवता सात स्तोकों के अन्तर में श्वांस ग्रहण करते हैं और चतुर्थ भक्त (एक रात दिन) के अन्तर से आहार ग्रहण करते हैं। पल्योपम स्थितियुक्त देवता एक दिन के व्यवधान से श्वांस ग्रहण करते हैं और पृथक्त (दो सौ नब्बे) दिन के व्यवधान से आहार ग्रहण करते हैं। जो देव सागरोपम स्थितियुक्त हैं वे देव इतने ही पक्ष बाद श्वास ग्रहण करते हैं और इतने ही हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करते हैं। अर्थात् तैंतीस सागरोपम की आयु युक्त सर्वार्थसिद्ध के देवता प्रति तैंतीस पक्ष के व्यवधान में श्वास ग्रहण करते हैं और प्रति तैंतीस हजार वर्ष के पश्चात् आहार ग्रहण करते हैं। प्राय: समस्त देवता संवेदनशील होते हैं। कभी असद्वेदना हो भी जाय तो उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। मुहूर्त्त के बाद असद्वेदना नहीं रहती। देवियों की उत्पत्ति ईशान देवलोक पर्यन्त ही है। अच्युत देवलोक के देवताओं तक देव गमनागमन करते हैं। (श्लोक ७८१-८९)

ज्योतिष्क देवलोक तक तापस देव होते हैं। ब्रह्मदेवलोक तक चरक (अध्ययन के लिए व्रत ग्रहणकारी) और परिव्राजक देव होते हैं। सहस्रार देवलोक तक तिर्यंचों की उत्पत्ति होती है और अच्युत देवलोक तक श्रावकों की। मिथ्यादृष्टि होने पर भी जैन लिंगी बनकर यथार्थरूप से समाचारी का पालन करने वालों की

उत्पत्ति अन्तिम ग्रैवेयक तक है। पूर्ण चतुर्दशपूर्वी मुनियों की उत्पत्ति ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्धि विमान तक है। सद्व्रतधारी साधु और श्रावकों की उत्पत्ति कम से कम सौधर्म देवलोक की है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और ईशान देवलोक तक देव अपने-अपने भवनों में रहने वाली देवियों के साथ विषय सम्बधी भोग करते हैं। वे संक्लिष्ट (दु:खदायी) कर्म और तीव्र राग सम्पन्न होने से मनुष्यों की तरह काम भोग में लीन रहते हैं और देवांगनाओं की समस्त अंग सम्बन्धीय प्रीति प्राप्त करते हैं। इसके बाद वाले दो देवलोकों में स्पर्शमात्र से, दो में रूप देखने से, दो में शब्द सुनकर और आनत इत्यादि चार देवलोकों के मन में मात्र विचार करने से विषय धारणकारी हो जाते हैं। इस प्रकार विचार से विषयरस पान करने वाले देवताओं से अनन्त सुख प्राप्त करने वाले देव ग्रैवेयकादि में हैं जिनके मन विषय विचारों से सर्वथा रहित है। (श्लोक ७८९-९६)

इस प्रकार अधोलोक, तिर्यक्लोक, ऊर्ध्वलोक में विभाजित समग्र लोक के मध्यभाग में चौदह राजलोक प्रमाण ऊर्ध्व अध:-लम्बी त्रस नाड़ी है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई एक राज लोक प्रमाण है। इस त्रस नाड़ी में स्थावर और त्रस दो प्रकार के जीव हैं। इसके बाहर केवल स्थावर ही हैं। इस प्रकार पूरा विस्तार नीचे सात लोक प्रमाण, मध्य तिर्यक्लोक में एक राजलोक प्रमाण, ब्रह्मदेव लोक में पांच राजलोक प्रमाण और अवशेष सिद्धशिला पर्यन्त एक राजलोक प्रमाण है। अच्छी तरह से प्रतिष्ठित आकृति विशिष्ट इस राजलोक को न किसी ने बनाया है, ना किसी ने धारण कर रखा है। यह स्वयंसिद्ध और आश्रय रहित होकर आकाश में अवस्थित है। (श्लोक ७९७-८००)

अशुभ ध्यान निरोध के लिए इस भांति समस्त लोक के या इसके भिन्न-भिन्न विभागों का जो बुद्धिमान विचार करता है उसको धर्म-ध्यान से सम्बन्धित क्षयोपशमादि भाव प्राप्त होता है और पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या अनुक्रम से शुद्ध से शुद्धतर होती जाती है। तीव्र वैराग्य से तरंगित धर्म-ध्यान के द्वारा प्राणी स्वयं ही समझ सके ऐसा स्वसंवेद्य अतीन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है। जो योगी नि:संग होकर धर्म-ध्यान करते हुए देह परित्याग करते हैं वे ग्रैवेयकादि स्वर्ग में उत्तम देव होते हैं। वहां वे महामहिमा-

सम्पन्न सौभाग्ययुक्त शरद्कालीन चन्द्र की तरह प्रभावशाली और पुष्पमाल्य और वस्त्रालङ्कारों से विभूषित शरीर प्राप्त करते हैं। विशिष्ट वीर्य बांधाढ्य (अर्थात् असामान्य ज्ञान और शक्ति के के धारक), कामार्तिज्वर रहित, अन्तराय रहित अतुल्य सुखों का चिरकाल तक सेवन करते हैं। इच्छानुरूप प्राप्त सर्वार्थ मनोहर सुख रूप अमृत उपभोग विघ्न रहित भाव से करने के कारण वे यह भी नहीं समझते हैं कि उनकी आयु किस प्रकार व्यतीत हो रही है। ऐसे दिव्य भोग सेवन करने के पश्चात् वे वहाँ से च्युत होकर मनुष्य लोक में उत्तम देहधारी बनकर जन्म ग्रहण करते हैं। मनुष्य लोक में भी वे दिव्य कुल में जन्म ग्रहण करते हैं। उनके सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं। वे नित्य उत्सव पालन करते हैं और मन को आनन्दकारी विविध प्रकार के भोग-उपभोग करते हैं तदुपरान्त विवेक का आश्रय लेकर समस्त भोगों का परित्याग कर शुभ ध्यान द्वारा कमस्त सर्मक्षय कर अव्यय पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। (श्लोक ८०१-८१०)

इस प्रकार समस्त जीवों के हितकारी श्री अजितनाथ प्रभु तीन जगतरूपी कुमुद को आनन्दित करने वाला कौमुदी रूप धर्मोपदेश दिया। स्वामी का उपदेश सुनकर हजारों नर-नारियों को ज्ञान प्राप्त हुआ और मोक्ष की माता रूप दीक्षा ग्रहण की।

(श्लोक ८११-८१३)

उस समय सगर चक्रवर्ती के पिता वसुमित्र जो कि यति बनकर घर में अवस्थित थे प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। फिर अजित नाथ स्वामी ने गणधर नाम कर्म सम्पन्न सुबुद्धि सिंहसेन आदि पंचानवे मुनियों को व्याकरण के प्रत्याहार की तरह उत्पत्ति, नाश और ध्रौव्यरूप त्रिपदी सुनायी। रेखा के सहारे जिस प्रकार चित्र अंकित होता है उसी प्रकार त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने चौदह पूर्व सहित द्वादशांगी की रचना की। फिर इन्द्र स्व स्थान से उठकर वासक्षेप पूर्ण थाल लेकर देव समूह सहित स्वामी के चरण-कमलों के निकट आकर खड़े हो गए। जगत्पति अजितनाथ स्वामी ने खड़े होकर गणधरों के मस्तक पर वासक्षेप किया और अनुक्रम से, सूत्र से, सूत्रार्थ से इसी प्रकार द्रव्य से, गुण से, पर्याय से और नय से अनुयोग की अनुज्ञा और गण की आज्ञा दी। फिर देव, मनुष्य और स्त्रियों ने दुन्दुभि ध्वनि सहित गणधरों

पर वास-क्षेप निक्षेप की। गणधर भी युक्त कर होकर अमृत निर्भर तुल्य प्रभु की वाणी सुनने के लिए प्रस्तुत हुए। अतः पूर्वाभिमुखी सिंहासन पर बैठकर प्रभु ने उन्हें अनुशिष्टिमय देशना दी। प्रथम प्रहर समाप्त होने पर भगवान ने धर्मदेशना बन्द की। उसी समय सगर राजा द्वारा प्रस्तुत बड़े थाल में रखे चार प्रस्थ वजन की 'बलि' पूर्व द्वार से समवसरण में लायी गयी। (श्लोक ८१४-८२७)

यह बलि शुद्ध और कमल के समान सुगन्ध पूर्ण चावल से उत्तम रूप से बनायी गयी थी। देवताओं द्वारा प्रक्षिप्त गन्ध मुष्ठि से उसकी सुगन्ध फैल रही थी। श्रेष्ठ पुरुष उसे वहन कर रहे थे। साथ-साथ चलने वाली दुन्दुभि के शब्द से दिशाएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं। स्त्रियां गाती हुईं उसके पीछे चल रही थीं। जिस प्रकार भँवरों से कमल-कोश परिवृत होता है उसी प्रकार नगर अधिवासियों द्वारा वह परिवृत था। फिर उन्होंने प्रभु की प्रदक्षिणा देकर जिस प्रकार देवताओं ने पुष्पवृष्टि की थी उसी प्रकार बलि को प्रभु के सम्मुख उछाला। उसका अर्द्धभाग धरती पर नहीं गिरने देकर ऊपर ही ऊपर देवों ने ग्रहण कर लिया। धरती पर गिरे हुए अर्द्धभाग को राजा सगर ने ग्रहण किया। उस बलि के प्रभाव से पुरानी व्याधियाँ निरामय होती हैं और छह महीने तक नए रोग नहीं होते। (श्लोक ८२८-८३०)

मोक्ष मार्ग के नायक प्रभु ने सिंहासन से उठकर उत्तरी द्वार से बाहर आकर मध्य गढ़ के मध्य ईशान कोण में निर्मित देवछन्द पर विश्राम किया। तब सगर राजा द्वारा निर्मित सिंहासन पर बैठकर सिंहसेन नामक मुख्य गणधर ने धर्मदेशना देनी प्रारम्भ की। भगवान के स्थान के प्रभाव से उन्होंने जिसने पूछा उसको असंख्य जन्मों की कथा बतायी। प्रभु की सभा में सन्देह नाशक गणधरों को केवली व्यतिरेक छद्मस्थ व्यक्ति समझ नहीं सके। गुरु का श्रम लाघव, दोनों का परस्पर विश्वास. गुरु शिष्य का क्रम यही गुण गणधर उपदेश का वैशिष्ट्य है। द्वितीय प्रहर समाप्त होने पर मुख्य गणधर ने देशना से इस प्रकार विराम लिया जिस प्रकार पथ चलते हुए पथिक विराम लेते हैं। देशना की समाप्ति पर सभी देव प्रभु को प्रणाम कर अपने-अपने स्थानों पर जाने को रवाना हुए। राह में नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अंजनाचलादि पर शाश्वत अर्हत् प्रतिमाओं का आठ दिन व्यापी महोत्सव

किया। फिर ऐसी यात्रा का बार-बार अवसर मिले ऐसी भावना भावते हुए जिस प्रकार वे अपने-अपने स्थान से आए थे उसी प्रकार चले गए। (श्लोक ८३१-८४०)

सगर चक्रवर्ती भी भगवान को वन्दना कर लक्ष्मी के संकेत-स्थान रूप अपनी अयोध्या नगरी को लौट गए। महायक्ष नामक चतुर्मुख यक्ष अजितनाथ स्वामी के तीर्थ के अधिष्ठायक हुए। उनका रंग श्याम, वाहन हाथी था। उनके दाहिनी ओर के चार हाथ में वरद, मुद्गर, अक्षसूत्र और पाश था एवं बाएँ चार हाथ में बिजौरा, अभय, अंकुश और शक्ति थी। प्रभु के शासन में अजितबला नामक चतुर्भुजा देवी—अधिष्ठायका बनी। उनका रंग सुवर्ण-सा था। उनके दाहिनी ओर के हाथों में वरद और पाश था। बायीं ओर के हाथों में बिजौरा और अंकुश था। वे लोहासन पर बैठी थीं। (श्लोक ८४१-४६)

चौंतीस अतिशयों से सुशोभित भगवान सिंहसेनादि गणधरों सहित पृथ्वी पर विचरण करने लगे। प्रत्येक ग्राम, नगर और आकार में विहार करते हुए भव्य प्राणियों को उपदेश देते हुए एक बार प्रभु कोशाम्बी नगरी के निकट पहुंचे। कोशाम्बी के ईशान कोण में पूर्व की भांति ही देवताओं ने एक योजन क्षेत्र में प्रभु के लिए समोसरण की रचना की। अतः अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर बैठकर जगत्पति ने सुरासुर एवं मनुष्यों की पर्षदा में धर्मदेशना आरम्भ की। उसी समय एक ब्राह्मण दम्पती आए और त्रिजगत के गुरु को प्रदक्षिणा देकर यथायोग्य स्थान पर बैठ गए। (श्लोक ८४७-५१)

देशना की समाप्ति पर वह ब्राह्मण उठा और हाथ जोड़कर प्रभु से पूछने लगा—हे भगवन्, यह ऐसा क्यों? (श्लोक ८५२)

भगवान ने जवाब दिया—यह सम्यक्त्व की महिमा है। वह समस्त अनर्थ को रोकने का एवं समस्त कार्य सिद्ध करने का प्रबल कारण है। सम्यक्त्व से सारे बैर भाव उसी तरह शान्त हो जाते हैं जैसे वर्षा से दावाग्नि शान्त हो जाती है। सारी व्याधियां उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे गरुड़ द्वारा सर्प नष्ट हो जाते हैं। दुष्कर्म इस भांति गल जाते हैं जैसे सूर्यताप से हिम गल जाता है। क्षणमात्र में मनोवांछित कार्य उसी प्रकार सिद्ध हो जाते है जैसे चिन्तामणि रत्न से सिद्ध होते है। श्रेष्ठ हाथी जिस प्रकार

जल-प्रवाह को बांधता है उसी प्रकार देवआयु का बंध होता है और महापराक्रमी मन्त्र की तरह देवता आकर उपस्थित हो जाते हैं। उपर्युक्त बातें तो सम्यक्त्व का सामान्य फलमात्र हैं। इसका महाफल तो तीर्थंकरत्व और मोक्ष पद की प्राप्ति है। (श्लोक ८५३)

प्रभु का प्रत्युत्तर सुनकर विप्र हर्षित हुआ और हाथ जोड़कर बोला—हे भगवन्, यह ऐसा ही है। सर्वज्ञ का कथन कभी अन्यथा नहीं होता ऐसा कहकर वह विप्र मौन हो गया। तब मुख्य गणधर ने यद्यपि वे वार्त्तालाप के अभिप्राय को समझ गए थे फिर भी समस्त पर्षदा के ज्ञान के लिए जगद्गुरु से जिज्ञासा की—हे भगवन्, इस ब्राह्मण ने आपसे क्या पूछा और आपने उसका क्या उत्तर दिया? इस सांकेतिक वार्त्तालाप को हमारे सम्मुख स्पष्ट कीजिए। (श्लोक ८५२-६०)

प्रभु बोले—इस नगर के निकट शालिग्राम नामक एक अग्रहार (दान में प्राप्त भूमि पर बसा गांव) है। वहां दामोदर नामक एक मुख्य ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम था सोमा। इनके शुद्धभट नामक एक पुत्र हुआ। इसका विवाह सिद्धभट नामक किसी ब्राह्मण की सुलक्षणा नामक कन्या से हुआ। शुद्धभट और सुलक्षणा यौवन प्राप्त होने पर अपने वैभव के अनुरूप सुख-भोग करने लगे। कालक्रम से इनके माता-पिता का देहान्त हो गया। पैतृक सम्पत्ति भी धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। अतः कभी-कभी रात्रि में उन्हें निराहार रहना पड़ता था। कहा भी गया है निर्धन के लिए सुसमय भी दुःसमय ही रहता है। शुद्धभट कभी विदेशागत भिखारी की तरह फटे-चिथड़े पहने नगर के राजपथ पर घूमता रहता। कभी चातक पक्षी की तरह पिपासार्त्त रहता। उसकी देह पिशाच की तरह मैल से मलिन रहती। ऐसी अवस्था के कारण अपने मित्रों से लज्जित होकर अपनी पत्नी को बिना कुछ कहे वह दूर विदेश चला गया। कुछ दिनों पश्चात् लोगों से उसकी पत्नी को यह वज्रपात-सी खबर मिली कि वह विदेश चला गया है। श्वसुर और धन के नष्ट हो जाने व पति के विदेश चले जाने से सुलक्षणा स्वयं को दुर्लक्षणा समझती हुई बड़े कष्ट से जीवन व्यतीत करने लगी। वर्षा ऋतु आयी। विपुला नामक कोई साध्वी उसके घर चातुर्मास यापन करने के लिए आयीं। सुलक्षणा ने साध्वी को रहने का स्थान दिया

ग्रौर सर्वदा उनसे धर्म श्रवण करने लगी। जिस भांति मीठी वस्तु के संयोग से खट्टी वस्तु का खट्टापन जाता रहता है उसी प्रकार साध्वी श्री के उपदेश से सुलक्षणा का मिथ्यात्व जाता रहा। कृष्ण-पक्ष के बीत जाने पर रात्रि जिस प्रकार निर्मल हो जाती है उसी प्रकार उसने निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त किया। वैद्य जिस प्रकार शरीर में उत्पन्न रोग को जानता है उसी भांति वह जीव-ग्रजीव ग्रादि पदार्थ को यथोचित जानने लगी। समुद्र पार करने के लिए यात्री जिस प्रकार योग्य जहाज पर चढ़ता है उसी प्रकार संसार पार कराने में समर्थ जैन धर्म को उसने अंगीकार कर लिया। उसे विषय से विरक्ति पैदा हो गयी, कषाय उपशान्त हो गया ग्रौर ग्रविच्छिन्न जन्म-मरण के प्रवाह से वह व्याकुल हो उठी। रसपूर्ण कथाग्रों में जागरूक होकर लोग जिस प्रकार रात्रि व्यतीत करते हैं उसी प्रकार उसने साध्वी श्री की सेवा-शुश्रूषा में वर्षाकाल व्यतीत किया। उसे ग्रणुव्रत ग्रहण करवाकर साध्वी श्री विहार कर ग्रन्यत्र चली गयीं। कहा भी गया है—वर्षाकाल बीत जाने पर कोई भी संयमी साधु एक स्थान पर नहीं रहता।

(श्लोक ८६१-८८०)

इसके कुछ दिनों पश्चात् ही शुद्धभट भी विदेश से खूब धन कमाकर प्रेयसी के प्रेम से ग्राकृष्ट होकर पारावत की तरह घर लौट ग्राया। ग्राते ही उसने पूछा—प्रिये, कमलिनी जिस प्रकार हिम सहन नहीं कर सकती उसी प्रकार मेरा सामान्य-सा वियोग भी सहन नहीं करने वाली तुमने इतने दीर्घकाल का वियोग कैसे सहा?

(श्लोक ८८१-८८२)

सुलक्षणा ने प्रत्युत्तर दिया—हे जीवितेश्वर, मरुस्थल में हंसिनी, ग्रल्प जल में मछली, राहु के मुख में चन्द्रलेखा ग्रौर दावानल में हरिण जिस प्रकार महासंकट में पड़ जाता है उसी प्रकार ग्रापके वियोग में मैं भी मृत्यु के द्वार पर जा पहुंची थी। उस समय ग्रन्धकार में प्रदीप की तरह, समुद्र में जहाज की तरह, मरुस्थल में वर्षा की तरह दया की सागर विपुला नामक एक साध्वी श्री यहां ग्रायीं। उन्हें देखकर ग्रापके विरह का समस्त दुःख दूर हो गया ग्रौर मनुष्य जन्म के फल-सा सम्यक्त्व मैंने प्राप्त किया।

(श्लोक ८८३-८८७)

शुद्धभट ने पूछा—भट्टिनी ! तुमने मनुष्य-जन्म का फल सम्यक्त्व को बताया वह क्या वस्तु है ? (श्लोक ८८८)

सुलक्षणा बोली—हे आर्यपुत्र, वह प्रियजनों को बताने योग्य है। फिर आप तो मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं अतः आपको बतला रही हूं। सुनिए ? (श्लोक ८८९)

सुदेव में देवत्व बुद्धि, सुगुरु में गुरुबुद्धि और शुद्ध धर्म में धर्म-बुद्धि रखना ही सम्यक्त्व है। कुदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि और कुधर्म में धर्मबुद्धि रखना विपर्यास भाव होने से मिथ्यात्व है। (श्लोक ८९०-८९१)

सर्वज्ञ, रागद्वेष को जीतने वाले, त्रिलोक में पूजित, यथायोग्य अर्थ समझाने में सक्षम अर्हत् परमेश्वर देव हैं। इन्हीं देव का ध्यान करना, उपासना करना, इनकी शरण ग्रहण करना और यदि ज्ञान रहे तो उनके उपदेशों का पालन करना उचित है। जो देव स्त्री, शस्त्र, अक्षसूत्रादि, रागादि दोष के चिह्न से अंकित है और जो कृपा और दण्डादि देने में तत्पर हैं वे देव कभी मुक्ति देने में समर्थ नहीं होते। नाटक, अट्टहास, संगीत आदि उपाधि से जो चंचल हैं वे देव शरणागत प्राणी को मोक्ष में कैसे ले जा सकते हैं।

(श्लोक ८९२-८९५)

महाव्रत धारणकारी, धैर्यधारी, भिक्षामात्र से जीवन निर्वाह-कारी और सर्वदा सामायिक में अवस्थानकारी जो धर्मोपदेशक हैं उन्हें गुरु कहा जाता है। समस्त वस्तुओं की इच्छा करने वाले, समस्त प्रकार के आहार करने वाले, परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी और और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते। जो गुरु स्वयं ही दरिद्र है वह दूसरों को धनवान कैसे बना सकता है ?

(श्लोक ८९६-८९८)

दुर्गति में पतित प्राणी को जो धारण करे वह धर्म है। सर्वज्ञ कथित दस प्रकार के संयमादि धर्म मुक्ति के कारण हैं। जो वाक्य अपौरुषेय है वह असम्भव है अतः वह प्रमाणभूत नहीं है। कारण, प्रमाण आप्त पुरुषों के अधीन है। मिथ्यादृष्टि मनुष्यों द्वारा स्वीकृत हिंसादि दोष से कलुषित नाम मात्र के धर्म को यदि धर्म कहकर स्वीकार किया जाता है तो वह संसार परिभ्रमण का ही कारण होगा। यदि राग-द्वेष युक्त देव को देव माना जाए, अब्रह्मचारी को गुरु माना जाए और दयाहीन धर्म को धर्म कहकर

ग्रहण किया जाए तब तो दुःख के साथ कहना होगा जगत् विनष्ट हो गया है। अर्थात् जगत् के प्राणी दुर्गतिगामी ही होंगे।

(श्लोक ८९९-९०२)

सम्यक्त्व के लिए शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता इन पाँच विषयों को जानना होगा। स्थिरता, प्रभावना, भक्ति, जिन-शासन में कुशलता और तीर्थ-सेवा इन पाँच को सम्यक्त्व का अलंकार कहा गया है। शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उनका परिचय ये पाँचों सम्यक्त्व को दूषित करते हैं। (श्लोक ९०३-९०५)

यह सुनकर ब्राह्मण बोला—सुलक्षणे, तुम भाग्यवती हो। कारण, तुमने धन-से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार बोलते-बोलते शुद्धभट ने भी उसी समय सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया। शुभ आत्मा के लिए धर्म प्राप्ति में धर्मोपदेशक साक्षी मात्र होते हैं। सम्यक्त्व के उपदेश से वे दोनों श्रावक बन गए हैं। सिद्धरस से कांच और लोहा दोनों ही स्वर्ण हो जाते हैं।

(श्लोक ९०६-९०८)

उस समय अग्रहार में साधुओं का आगमन नहीं होता था अतः वहाँ के लोग श्रावक धर्म परित्याग कर मिथ्या बन गए थे। इसीलिए लोग उन दोनों की यही कहकर निन्दा करने लगे कि ये दोनों दुर्बुद्धि कुल-क्रमागत धर्म को छोड़कर श्रावक बन गए हैं। उस निन्दा की कोई परवाह न कर वे दोनों श्रावक धर्म में दृढ़ रहे। कालक्रम से गृहस्थाश्रम रूपी वृक्ष के फलस्वरूप ब्राह्मण दम्पती के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। (श्लोक ९०९-९११)

एक बार हेमन्त ऋतु में शुद्धभट पुत्र को लेकर ब्राह्मण सभा परिवृत धर्म-अग्निष्टिका के पास गए। इससे ब्राह्मणगण क्रुद्ध होकर एक स्वर में बोल उठे, तू श्रावक हो गया है—यहाँ से दूर हो जा, दूर हो जा। (श्लोक ९१२-९१३)

इस प्रकार चण्डाल की तरह उसका तिरस्कार किया गया। वे सभी धर्म-अग्निष्टिका को खूब अच्छी तरह से घेरकर बैठ गए। कारण, ईर्ष्यापरायण होना मनुष्य का जाति धर्म है। (श्लोक ९१४)

उनके इस वाक्य से दुःखी और क्रुद्ध शुद्धभट उस सभा के के सामने बोल उठा—यदि जिनोक्त धर्म संसार सागर को उत्तीर्ण करने में समर्थ नहीं है, यदि सर्वज्ञ तीर्थंकर आप्तदेव नहीं है, ज्ञान,

दर्शन, चरित्र यदि मोक्ष मार्ग नहीं है और संसार में यदि ऐसा सम्यक्त्व नहीं है तो मेरा यह पुत्र अग्नि में जलकर मर जाए, और यदि मैंने जो कुछ कहा वह सत्य है तो यह प्रज्वलित अग्नि मेरे पुत्र के लिए शीतल हो जाए। (श्लोक ९१५-९१८)

ऐसा कहकर क्रोध से मानो द्वितीय अग्नि ही हो उस साहसी ब्राह्मण ने अपने पुत्र को प्रज्वलित अग्नि में फेंक दिया। तब अरे रे इस अनार्य ब्राह्मण ने अपने पुत्र को जलाकर मार डाला। ऐसे क्रोध भरी उक्ति से ब्राह्मण पर्षदा ने उसका तिरस्कार किया।

(श्लोक ९१९-९२०)

वहां कोई सम्यक् दर्शनधारिणी देवी निवास करती थी। उसने बालक को भँवरे की तरह कमल के मध्य पकड़ लिया और ज्वालामयी अग्नि की दाहशक्ति को हरण कर लिया। इस प्रकार उसके पुत्र को मानो चित्रस्थ हो ऐसा बना दिया। उस देवी ने पूर्व के मनुष्य भव में संयम का विरोध किया था इसलिए मरकर व्यंतरी रूप में जन्म-ग्रहण किया था। उसने किसी केवली को पूछा था—मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होगी? केवली ने कहा—हे अनघे, तुम सुलभबोधि होगी; किन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए तुम्हें सम्यक्त्व भावना से भली भाँति उद्योगी होना होगा। उस वाक्य को उसने माला की तरह हृदय में धारण कर रखा था। अतः उसने सम्यक्त्व के महत्त्व को बढ़ाने के लिए ब्राह्मण पुत्र की रक्षा की।

(श्लोक ९२१-९२५)

इस प्रकार जैन धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर ब्राह्मणों की आँखें आश्चर्य से फैल गयीं। उन्होंने ब्राह्मण जन्म में ऐसी अदृष्टपूर्ण घटना इसके पूर्व नहीं देखी थी। शुद्धभट ने अपनी स्त्री को यह बात सुनाई व सम्यक्त्व के प्रकट प्रभाव को देखकर आनन्दित हुआ; किन्तु विपुला साध्वी के प्रगाढ़ सम्पर्क में रहने के कारण ब्राह्मणी को विवेक उत्पन्न हो गया था। उसने कहा—तुम्हें धिक्कार है! यह तुमने क्या किया? सम्यक्त्व भक्त कोई देव निकट ही था इसीलिए तुम्हारा मुख उज्ज्वल हुआ; किन्तु यह तुम्हारे क्रोध का चांचल्य मात्र है। यदि उस समय सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट करने वाला कोई देव निकट नहीं रहता तो तुम्हारा पुत्र जलकर मर जाता और लोगों में जैन धर्म की निन्दा होती। यद्यपि वैसा भी होता तब भी जैन धर्म अप्रामाणित नहीं होता। इस प्रसंग में

यदि कोई कहे जैन धर्म अप्रामाणिक है तो वह विशेष पापी है; किन्तु तुमने तो जो कार्य किया वह मूर्ख मनुष्य भी नहीं करता। इसलिए हे आर्यपुत्र, आगे कभी ऐसा कार्य मत करना। ऐसा कहकर वह ब्राह्मणी पति को सम्यक्त्व में स्थिर करने के लिए मेरे पास ले आई थी। इसी विषय में इस ब्राह्मण ने मुझसे प्रश्न किया था। मैंने भी इसीलिए उत्तर दिया था कि यह सम्यक्त्व का ही प्रभाव है। (श्लोक ९२६-९३४)

भगवान् के उस वाक्य को सुनकर अनेक प्राणी प्रतिबोधित होकर धर्म में स्थिर हुए। शुद्धभट ब्राह्मणी सहित भगवान् से दीक्षित हुए और अनुक्रम से दोनों को ही केवल-ज्ञान हुआ।

(श्लोक ९३५-९३६)

जगत् पर अनुग्रह करने में तल्लीन और चक्री की तरह अग्रगामी चक्र से सुशोभित भगवान् अजितनाथ स्वामी ने देशना समाप्त कर वहाँ से प्रस्थान किया और पृथ्वी पर विचरने लगे।

(श्लोक ९३७)

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थ सर्ग

उधर सगर राजा की आयुधशाला में सुदर्शन नामक चक्र-रत्न उत्पन्न हुआ था। उस चक्र की बेड़ सोने की थी और उसके अर लोहिताक्ष रत्नों से व विचित्र माणिक्य घण्टिकाओं से शोभित थे। वह चक्र नन्दीघोष सहित था। निर्मल मुक्ताओं से वह सुन्दर लग रहा था। उसकी नाभि वज्र-रत्नमय थी। घुंघरू की पंक्तियों से वह मनोहर लग रहा था एवं समस्त ऋतुओं के फूलों से वह चर्चित था। उस पर चन्दन का लेप किया हुआ था। एक हजार देव उसके अधिष्ठाता थे। वह शून्य में अवस्थित था। (श्लोक १-४)

मानो सूर्यमण्डल हो ऐसे ज्वालामयी किरणों से भयंकर उस चक्र को प्रकट होते देखकर शस्त्रागार के अधिकारी ने उसे नमस्कार किया। फिर विचित्र पुष्पमालाओं से उसकी पूजा कर आनन्द चित्त से यह समाचार सगर राजा को दिया। यह सुनकर गुरु के दर्शन की तरह राजा सगर सिंहासन, पादपीठ और पादुका का उसी क्षण परित्याग कर मन ही मन चक्ररत्न का ध्यान कर कुछ कदम आगे

बढ़कर उसे नमस्कार किया। कहा भी गया है—ग्रस्त्रजीवी लोगों के लिए उनके ग्रस्त्र ही देवता के समान है। फिर सिंहासन पर बैठकर अपनी देह के समस्त अलंकार खोल-खोलकर चक्ररत्न उत्पन्न होने का संवाद लाने वाले को दिए। तदुपरान्त जल से मङ्गल स्नान कर दिव्य वस्त्रालङ्कार धारण कर चक्र-रत्न की पूजा करने के लिए प्रस्थान किया। (श्लोक ५-११)

पैदल चलकर सम्मुख जाना पूजा से भी अधिक है। किंकरों की तरह दौड़ते-गिरते-उठते राजन्यवृन्द सम्मान के लिए उनके पीछे चले। कुछ सेवक पूजा की सामग्री लिए, कुछ सेवक अपनी इच्छा से ही उनके पीछे-पीछे चले। कारण, अधिकारियों के स्व-कार्य का प्रमाद भयभीत बना देता है। जिस भाँति देवताओं से विमान झिलमिल करता है उसी प्रकार दिव्य चक्र से झिलमिलाते शस्त्रागार में राजा सगर पहुंचे। राजा ने गगन-रत्न (सूर्य) की तरह चक्र-रत्न को देखते ही पाँचों अङ्गों से भूमि स्पर्श-पूर्वक प्रणाम किया। हाथ में रोमहस्त (मयूर पुच्छ की सम्मार्जनी) लेकर महावत जिस प्रकार नींद से जागे हस्ती की मार्जना करता है उसी प्रकार राजा सगर ने चक्र का मार्जन किया। कुम्भ भरकर लाए जल सेविका के हाथों से लेकर उनसे देव प्रतिमा की तरह चक्र-रत्न का स्नानाभिषेक किया। फिर उसे ग्रहण करने के लिए स्व-हस्त की शोभा की तरह चन्दन का तिलक किया। विचित्र फूलों की माला से जयलक्ष्मी के पुष्प गृह की तरह चक्ररत्न की पूजा की। फिर प्रतिष्ठा के समय देव-प्रतिमा पर आचार्य जिस प्रकार क्षेपन करते हैं उसी प्रकार उस पर गन्ध और वासक्षेप निक्षेप किया। देवताओं के योग्य महामूल्यवान वस्त्रालङ्कारों से राजा ने स्व-देह की तरह चक्ररत्न को सजाया। आठों दिशाओं की जयलक्ष्मी को आकृष्ट करने के लिए मानो अभिचारमण्डल हों ऐसे अष्टमङ्गल चक्र के सम्मुख चित्रित किए। उसके निकट बसन्त की तरह अच्छे सुगन्ध-युक्त पञ्चवर्णीय पुष्पों का स्तवक सजाया। उसके सम्मुख कर्पूर और चन्दन का धूप दिया। इनका धुआँ ऐसा लगा मानो राजा कस्तूरी का विलेपन कर रहे हैं। तदुपरान्त राजा सगर चक्र को तीन प्रदक्षिणा देकर कुछ पीछे हटे एवं जयलक्ष्मी उत्पन्न करने के लिए समुद्र रूप चक्ररत्न को पुनः प्रणाम किया। फिर नव-प्रतिष्ठित देवों के लिए किया जाने वाला अष्टाह्निका महोत्सव

किया। नगर-सीमा की देवी की तरह सभी नगरवासियों ने महा धूमधाम से चक्ररत्न का पूजन-महोत्सव किया। (श्लोक १२-२७)

दिग्यात्रा के मानस ने चक्ररत्न प्रकट किया हो इस भाँति उत्सुक होकर राजा अपने महल में गए और ऐरावत हस्ती जिस प्रकार गङ्गा में स्नान करता है उसी प्रकार स्नानगृह में जाकर पवित्र जल से स्नान किया। फिर रत्न-स्तम्भ की तरह दिव्य वस्त्रों से स्व-शरीर को परिष्कृत कर राजा सगर ने उज्ज्वल दिव्य वस्त्र धारण किए। गन्ध द्रव्य वहनकारिणियों ने आकर चन्द्रिका रत्न-से निर्मल गो-शीर्ष चन्दन के रस से राजा का अङ्गराग किया। शरीर में चन्दन का विलेपन किया। तदुपरान्त राजा ने अपनी देह के सान्निध्य से अलङ्कारों को अलंकृत किया। कारण, उत्तम स्थान प्राप्त होने पर ही अलङ्कार अधिक सुशोभित होते हैं।

(श्लोक २८-३२)

एक मङ्गल मुहूर्त्त में पुरोहितों ने जिनका मङ्गल किया है ऐसे खड्गरत्न को हाथ में लेकर राजा दिक्‌यात्रा करने के लिए गजरत्न पर चढ़े। सेनापति ने अश्वरत्न पर आरोहण किया और राजा के आगे-आगे चले। समस्त उपद्रव रूप कुहासे को नष्ट करने के लिए दिनरत्न-से पुरोहितरत्न राजा के साथ-साथ चले। भोजन-दान में समर्थ और स्थान-स्थान पर सेना के लिए आवास और स्कन्धावार की व्यवस्था करने वाला गृहरत्न मानो जङ्गम चित्ररस नामक कल्पवृक्ष हो इस भाँति सगर राजा के साथ चला। मुहूर्त्त मात्र में नगर आदि का निर्माण करने में समर्थ पराक्रमी विश्वकर्मा-सा वर्द्धकीरत्न भी उनके साथ चला। चक्रवर्ती के कर स्पर्श से ही विस्तारित होने में सक्षम छत्ररत्न और चर्मरत्न अनुकूल पवन स्पर्श से जैसे मेघ प्रवाहित होते हैं उसी भाँति उनके साथ-साथ चले। अन्धकार का नाश करने में समर्थ मणिरत्न और कांकिणी-रत्न जम्बूद्वीप का लघु रूप धारण कर दोनों चन्द्र-सूर्य की तरह उनके साथ चले। अनेक दासियाँ जिनके साथ हैं ऐसा अन्तःपुर मानो स्त्रीराज्य से उठ आया हो, चक्री के साथ छाया की तरह चला। दिक्‌समूह को प्रकाशित करने के कारण दूर से ही दिग्विजय को स्वीकार करता हुआ चक्ररत्न चक्रवर्ती के प्रताप की तरह पूर्व दिशा की ओर मुख किए अग्रसर होता रहा। पुष्करावर्त मेघ की घटा की तरह प्रयाण वादित्र के शब्दों से दिग्गजों का कान

विदीर्ण कर, चक्र के साथ धावमान अश्वों के खुरों से उठी धूल से सम्पुट के पुट की तरह धरती और आकाश को एक कर, रथ और हस्तियों पर आन्दोलित ध्वजा के अग्रभाग में निर्मित पाठीन जातीय मकरादि से मानों आकाशरूपी महासमुद्र को जल-जन्तुमय कर, सातों दिशाओं से झरते मदजल की धारावृष्टि से सुशोभित हस्ती घटा के समूह में दुर्दिन दिखाकर, उत्साह से उल्लम्फनकार मानो स्वर्गारोहण की इच्छा रखता हो ऐसे कोटि-कोटि पदातिक सैन्य से पृथ्वी को चारों ओर से आच्छादित कर, सेनापति की तरह आगे चलते हुए असह्य प्रतापयुक्त और सर्वत्र अकुण्ठित शक्ति सम्पन्न चक्ररत्न से सुशोभित होकर, सेनानियों द्वारा धृत दण्डरत्न से विषम भूमि को हल द्वारा समान करने की तरह समतल और प्रतिदिन एक-एक योजन चलने के कारण भद्रद्वीप की तरह क्रीड़ा करते हुए पथ समाप्त कर इन्द्र के समान वे चक्रवर्ती कई दिनों के पश्चात् पूर्व दिशा में प्रवाहित गङ्गा नदी के ललाट तिलक के समान मगध देश में जा पहुँचे। (श्लोक ३३-५०)

वहां सगर चक्री की आज्ञा से वर्द्धकीरत्न ने मानो अयोध्या की छोटी बहिन हो ऐसा स्कन्धावार डाला। आकाश पर्यन्त ऊँची और बड़ी-बड़ी हस्तीशाला से, बड़ी-बड़ी गुहाओं के समान हजार-हजार अश्वशाला से, विमानों जैसी अट्टालिकाओं से, मेघ-घटा से मण्डपों से मानो सांचे में ढालकर निर्मित किए हों ऐसे समान आकृति सम्पन्न दुकानों से और शृङ्गाटक—चौरस्तों आदि की रचना से राजमार्ग की स्थिति निर्देशकारी छावनी शोभित होने लगी। उसका विस्तार नौ योजन और लम्बाई बारह योजन थी।

(श्लोक ५१-५३)

वहां पौषधशाला में राजा ने मगध तीर्थकुमारदेव का मन ही मन ध्यान कर अष्टम तप किया और समस्त वेश-भूषा परित्याग कर दर्भ के आसन पर आश्रय लेकर, शस्त्ररहित होकर ब्रह्मचर्य का पालन कर एवं जागृत रहकर तीन दिन व्यतीत किए। अष्टम तप पूर्ण होने पर राजा पौषधगृह से निकले और पवित्र जल से स्नान किया। फिर रथ पर चढ़े। रथ पाण्डुवर्ण की ध्वजा से ढका था। वह अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से आवृत होने के कारण फेन और जल-जन्तु युक्त लग रहा था। उसके चारों ओर चार दिव्य घण्टे बँधे थे। उससे वह ऐसा लग रहा था जैसे चार चन्द्र

और सूर्य से मेरुपर्वत शोभान्वित होता है। इन्द्र के उच्चैःश्रवा नामक घोड़े की तरह ऊँची गर्दनयुक्त घोड़ा उसमें लगा था।

(श्लोक ५४-६०)

चतुरंगिणी अर्थात् हस्ती, अश्व, रथ और पदातिक से वे साम-दाम, दण्ड और भेद रूप नीति की तरह सुशोभित थे। उनके मस्तक पर एक छत्र था और दोनों ओर दो चामर थे। वे तीनों उनके त्रिलोक व्याप्त यशः रूपी लता के तीन अंकुर की तरह लग रहे थे। राजा का रथ चक्र की नाभि पर्यन्त गहरे जल में उतरा। राजा हाथ में धनुष लिए रथ पर बैठे थे। जयलक्ष्मी रूपी नाटक के नन्दी की तरह उन्होंने धनुष की प्रत्यंचा बजाई और भण्डार से जैसे रत्न निकाला जाता है उसी प्रकार तूणीर से तीर निकाला। फिर धातकी-खण्ड के मध्य भाग में अवस्थित धनुषाकार पर्वत की तरह उस तीर को धनुष से युक्त किया। स्वनामाङ्कित और कर्णा-भरण प्राप्त उस सोने के तीक्ष्ण तीर को राजा ने कान तक खींच कर मगध तीर्थ के अधिपति की ओर निक्षेप किया। वह तीर आकाश में उड़ते पक्षी की तरह सन्-सन् ध्वनि करता हुआ निमेष मात्र में बारह योजन पथ अतिक्रम कर मगध तीर्थकुमार की सभा में जाकर गिरा। आकाश से गिरती बिजली की तरह उस तीर को गिरते देखकर वह क्रोधान्वित हो उठा। उसकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं। इससे वह भयंकर लगने लगा। कुछ सोचकर वह उठा और उस तीर को हाथ में लिया। उस पर उसे सगर चक्रवर्ती का नाम दिखाई पड़ा। हाथ में तीर लिए वह सिंहासन पर जा बैठा और गम्भीर शब्दों में बोलने लगा—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सगर नामक द्वितीय चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं। भूत भविष्य और वर्तमान काल के मगधाधिपतियों का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे चक्रवर्ती को उपहार प्रदान करें।

(श्लोक ६१-७३)

फिर उपहार की सामग्री लेकर भृत्य की तरह आचरण करते हुए मगधाधिपति सगर चक्री के सामने आए। उन्होंने आकाश में स्थित होकर चक्री निक्षिप्त तीर, हार, बाजूबन्द, कर्णाभरण, भुजबन्द आदि अलङ्कार, परिधान और देवदूष्य वस्त्र राजा को उपहार में दिए। जिस प्रकार वैद्य रसेन्द्र या पारद देता है उसी प्रकार उन्होंने राजा को मगध तीर्थ का जल दिया। फिर पद्मकोष

की तरह हाथ जोड़कर उसने चक्रवर्ती से कहा—इस भरत क्षेत्र के पूर्वादिक प्रान्त में मैं आपके सामन्त की तरह रहूंगा।

(श्लोक ७४-७८)

चक्रवर्ती ने उन्हें भृत्य रूप में स्वीकार किया और दुर्गपाल की तरह सत्कार कर विदा किया। तदुपरान्त उदीयमान सूर्य की तरह अपने तेज से दिक्‌समूह को उद्‌भासित कर चक्रवर्ती समुद्र से बाहर निकले और स्कन्धावार को लौट आए। राजाओं में गजेन्द्र की तरह महाराज ने स्नान और देव-पूजा कर परिवार सहित पारना किया। तत्पश्चात् वहाँ मगध तीर्थाधिपति का अष्टाह्निका महोत्सव किया। कारण, सेवक के सम्मान में स्वामी ही वर्द्धित होते हैं।

(श्लोक ७९-८२)

सर्व दिग्विजयी लक्ष्मी को अर्पण करने में न्यासरूप चक्ररत्न दक्षिण दिशा में चला। स्व-सैन्य से पर्वत सहित पृथ्वी को चलायमान करते हुए चक्रवर्ती दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्यमार्ग में चक्र के पीछे-पीछे चलने लगे। समस्त दिशाओं को विजय करने में दृढ़-प्रतिज्ञ राजा सगर पथ में कितने ही राजाओं को पवन जिस प्रकार वृक्ष को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार राज-सिंहासन से उतारकर, कितनों को शालिवृक्ष की तरह पुनः राज-सिंहासन पर बैठाकर, कितनों को कीर्तिस्तम्भ की तरह नूतन राज्य देकर, नदी का ज्वार जैसे बेतसलता को आनमित करता है उसी प्रकार कितने ही राजाओं के मस्तक को आनमित कर, किसी की अंगुली काटकर, किसी से रत्नदण्ड ग्रहण कर, किसी को हस्ती विहीन कर, किसी को छत्र-हीन कर क्रमशः वे दक्षिण समुद्र के तट पर जा पहुंचे। वहाँ हस्ती से उतरकर मुहूर्त मात्र में निर्मित स्कन्धावार में इस प्रकार रहने लगे जिस प्रकार इन्द्र विमान में रहता है।

(श्लोक ८३-८९)

वहाँ से चक्री पौषधशाला में गए और अष्टम तप कर पौषध में वहाँ के अधिष्ठायक देवता वरदाम का ध्यान करने लगे। अष्टम भक्त के पश्चात् पौषधव्रत समापन कर मानो सूर्यमण्डल से लाया गया हो ऐसे रथ पर चढ़े। जिस प्रकार तक्र मन्थन करने वाला मन्थन-दण्ड को दधि के मध्य प्रवेश कराता है उसी प्रकार रथ को नाभि पर्यन्त समुद्र जल में प्रवेश करवाया। फिर धनुष की प्रत्यंचा बजाई। भय से व्याकुल कान झुकाए जलचर प्राणियों ने उस

प्रत्यंचा ध्वनि को सुना। संपेरा जिस प्रकार विवर से सर्प को खींचकर निकालता है उसी प्रकार उन्होंने एक भयङ्कर तीर तूणीर से निकाला। उस तीर को प्रत्यंचा पर आरोपित कर सूचना देने आए सेवक की तरह उसे कान तक खींचकर इन्द्र जैसे पर्वत पर वज्र निक्षेप करता है उसी प्रकार वरदामपति के आवास की ओर निक्षेप किया। सभा में बैठे वरदामकुमार के सम्मुख वह तीर इस प्रकार गिरा मानो किसी ने मुद्गर का आघात किया हो। इस असमय में किसकी मृत्यु निकट आ गई है? कहते हुए वरदामपति ने उठकर तीर हाथ में ले लिया। उस पर राजा सगर का नाम देखकर वह इस प्रकार शान्त हो गया जिस प्रकार नागदमनी औषध देखकर सर्प शान्त हो जाता है। तब वह अपने सभासदों को कहने लगा—जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सगर नामक द्वितीय चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं। गृहागत देवताओं की तरह विचित्र वस्त्रों और महामूल्यवान रत्नालङ्कारों से यह चक्रवर्ती हमारे लिए पूजनीय है। (श्लोक ९०-१०१)

उसी क्षण उपहार द्रव्य लेकर रथ में बैठकर वे चक्रवर्ती के सम्मुख आए और उन्होंने अन्तरिक्ष में खड़े रहकर भण्डारी की तरह रत्नों का मुकुट, मुक्ता की माला, बाजूबन्द, कड़ा आदि चक्री को उपहार स्वरूप दिए। तीर भी लौटा दिया और कहा—आज से इन्द्रपुरी जैसा हमारा देश और हम आपके आज्ञाकारी बनकर वरदाम तीर्थ के अधिकारी की तरह रहेंगे। (श्लोक १०१-१०४)

कृतज्ञ चक्रवर्ती ने उनसे उपहार की वस्तुएँ लेकर उनका कथन स्वीकार करते हुए उन्हें ससम्मान विदा किया। (श्लोक १०५)

जल के अश्व को देखकर जिनके रथ के अश्व हिनहिना रहे थे वे चक्रवर्ती चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए स्व-स्कन्धावार में आए। स्नान और जिनपूजा कर अष्टम तप का पारणा किया। तदुपरान्त वरदामकुमार का बड़ा अष्टाह्निका महोत्सव किया। कारण ईश्वर अपने भक्तों का सम्मान बढ़ाते हैं। (श्लोक १०६-१०८)

वहाँ से चक्ररत्न के पथ पर उस पृथ्वीपति ने सैन्य के पदरज से सूर्य को आवृत्त कर पश्चिम दिशा की ओर प्रयाण किया। गरुड़ जिस प्रकार अन्य देश के पक्षियों को उड़ा देता है उसी प्रकार द्रविड़ देश के राजाओं को प्रताड़ित कर, सूर्य जैसे उल्लुओं को अन्ध कर देता है उसी प्रकार आन्ध्र के राजाओं को अन्ध कर,

तीन प्रकार के चिह्नों (वात, कफ, पित्त) से जैसे प्राण नष्ट होते हैं उसी प्रकार कलिंग देश के राजाओं को राजचिह्नों से हीन कर, दर्भ के विस्तार में रहे हों इस प्रकार विदर्भ-देश के राजाओं को निःसत्त्व कर, वस्त्र-व्यवसायी जिस प्रकार स्वदेश का त्याग करता है उसी प्रकार महाराष्ट्र के राजाओं द्वारा उनके देश का त्याग करवाकर, तीर से जैसे अश्वों को अंकित किया जाता है उसी प्रकार अपने तीर से कंकण देश के राजाओं को अङ्कित कर, तपस्वियों की तरह लाट देश के राजाओं के ललाट पर अञ्जलि रखवाकर, वृहद् कच्छपों की तरह कच्छ देश के समस्त राजाओं को संकुचित कर और क्रूर सोरठ देश के राजाओं को अपने देश की तरह वश में करते हुए वे पश्चिम समुद्र तट पर आ उपस्थित हुए।

(श्लोक १०९-११४)

वहाँ छावनी डालकर प्रभास तीर्थ के अधिष्ठायक देवों को हृदय में धारण किया एवं अष्टम तप कर पौषधशाला में जाकर पौषधव्रत ग्रहण कर लिया। अष्टम तप के पश्चात् सूर्य की तरह वृहद् रथ में बैठकर चक्री उस रथ को नाभि पर्यन्त समुद्र के मध्य में ले गए। फिर प्रत्यंचा तानकर प्रयाण के लिए कल्याणकारी-जयवादित्रों के शब्दों की तरह टंकार ध्वनि की ओर प्रभास तीर्थ के देवता के निवास स्थान की ओर सन्देशवाही दूत की तरह स्व-नामाङ्कित तीर निक्षेप किया। पक्षी जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष पर गिरता है उसी प्रकार वह तीर बारह योजन दूर अवस्थित प्रभास देव की सभा में जाकर गिरा। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ प्रभास देव ने उस तीर को देखा और उस पर खुदे चक्रवर्ती के नाम को पढ़ा। तत्क्षण प्रभासपति चक्री सगर के तीर के साथ अनेक प्रकार के उपहारों को लेकर इस प्रकार चक्रवर्ती के निकट आए जिस प्रकार गृहागत गुरु या अतिथि के पास गृहस्थ जाता है। उन्होंने आकाश में स्थित रहकर मुकुटमणि, कड़े, कटिसूत्र, बाजूबन्द और तीर चक्रवर्ती को उपहार में दिए और नम्रतापूर्वक अयोध्यापति को बोले—हे चक्रवर्ती, मैं अपने स्थान पर आपका आज्ञाकारी बना हुआ रहूँगा। (श्लोक ११५-१२३)

तब चक्रवर्ती ने उपहार ग्रहण कर उससे वार्त्तालाप किया और सेवक की तरह उन्हें विदा कर छावनी में लौट आए। फिर स्नान कर जिन-पूजा एवं परिवार सहित अष्टम तप का पारणा

किया। आनन्दित चक्री ने वरदामपति की भाँति ही प्रभासपति के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। (श्लोक १२४-१२६)

वहाँ से चक्र के पीछे पश्चात्-प्रत्यावर्त्तकारी समुद्र की तरह चक्री स्व-सैन्य सहित सिन्धु के दक्षिण तट से पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे। राह में सिन्धुदेवी के मन्दिर के निकट उन्होंने आकाश में एक मुहूर्त्त में निर्मित गन्धर्व नगरी की तरह ही अपनी छावनी डाली और सिन्धुदेवी को स्मरण कर अष्टम तप किया। अतः सिन्धुदेवी का रत्नासन कम्पित हुआ। देवी ने अवधिज्ञान से चक्री का आगमन जाना और तत्क्षण भक्तिपरायण वह देवी उपहार लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुई। उसने आकाश से ही निधि की तरह एक हजार आठ रत्न कुम्भ, मणिरत्न जड़ित दो विचित्र भद्रासन, बाजूबन्द, कड़े आदि रत्नालङ्कार और देवदूष्य वस्त्र चक्रवर्ती को उपहार में दिए। फिर बोली—हे नरदेव! आपके देश में अवस्थान करने वाली मैं आपकी दासी की भाँति रहूँगी। आप मुझे आज्ञा दें। (श्लोक १२७-१३३)

अमूल्य तुल्य वाणी से देवी का सत्कार कर चक्री ने उन्हें विदा दी और अष्टम तप का पारणा कर पूर्व की तरह ही सिन्धु देवी के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। कारण, महाऋद्धि सम्पन्न महात्माओं के लिए पद-पद पर उत्सव होता है।

(श्लोक १३४-१३५)

स्व बन्धन-शाला से जिस प्रकार हस्ती निकलता है उसी प्रकार लक्ष्मी की छाया-स्वरूप चक्र आयुधशाला से निकल कर उत्तर-पूर्व कोण में चलने लगा। उसके पीछे-पीछे चलते हुए चक्री कई दिनों के पश्चात् वैताढ्य पर्वत के दक्षिण ओर उपस्थित हुए एवं नगरी की तरह ही छावनी डालकर मन-ही-मन वैताढ्यकुमार देव का स्मरण करते हुए अष्टम तप किया। अष्टम तप पूर्ण होने पर वैताढ्यकुमार देव का आसन कम्पित हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान से जाना कि भरतार्द्ध की सीमा पर चक्रवर्ती आए हैं। नगर के निकट आकर उन्होंने आकाश में स्थित रहकर ही उन्हें दिव्यरत्न, वीरासन, भद्रासन और देवदूष्य वस्त्र उपहार में दिए। फिर प्रसन्न होकर स्वस्तिवाचक की भाँति आशीर्वाद दिया—आप चिरंजीवी हों, सुखी हों, चिरकाल पर्यन्त विजयी हों। चक्रवर्ती ने अपने प्रिय मित्र की भाँति ही उनसे ससम्मान बातचीत कर उन्हें विदा किया

एवं अष्टम तप का पारणा किया। तदुपरान्त स्वप्रसाद रूपी प्रासाद में स्वर्ण-कलश की तरह अष्टाह्निका महोत्सव किया।

(श्लोक १३६-१४४)

चक्र के पीछे चलते हुए चक्री, तमिस्रा गुहा के निकट पहुंचे और वहां छावनी डालकर सिंह की भांति अवस्थान करने लगे। वहां उन्होंने कृतमाल देव को स्मरण कर अष्टम तप किया। महान् पुरुष जो कार्य करणीय होता है उसकी अवहेलना नहीं करते। अष्टम तप फलित हुआ। कृतमाल देव का आसन कम्पित हुआ। कहा भी गया है—ऐसे पराक्रमी पुरुष जब उद्योग करते हैं तो पर्वत भी कांप उठता है। कृतमाल देव ने अवधिज्ञान से चक्री का आगमन जाना और स्वामी के निकट जिस प्रकार जाते हैं उसी प्रकार आकर आकाश में अवस्थित हुए। उन्होंने रमणियों के योग्य चतुर्दश तिलक, अच्छे वस्त्र, गन्धचूर्ण, माल्य इत्यादि वस्तुएँ चक्री को उपहार में दीं और चक्री की जयकार करते हुए उनकी सेवा स्वीकृत की। मनुष्यों की तरह देवों के लिए भी चक्रवर्ती सेव्य होते हैं। चक्रवर्ती ने उनसे सस्नेह वार्तालाप कर उन्हें विदा कर परिवार सहित अष्टम तप का पारणा किया। वहां सगर राजा ने आदर-पूर्वक कृतमाल देव का अष्टाह्निका महोत्सव किया। कारण, यह कार्य देवों को प्रीतिदायक है। (श्लोक १४५-१५२)

अष्टाह्निका महोत्सव पूर्ण हो जाने पर चक्रवर्ती ने पश्चिम दिशा के सिन्धु निष्कूट को जय करने को सेनापतिरत्न को आदेश दिया। सेनापतिरत्न ने मस्तक झुकाकर पुष्पमाल्य की भांति उस आज्ञा को स्वीकार कर लिया। फिर वे हस्तीरत्न पर आरोहण कर चतुरंगिणी सेना सहित सिन्धु प्रवाह के निकट आए। अपने उग्रतेज से वे भारतवर्ष में इस प्रकार प्रसिद्ध थे मानो वे इन्द्र या सूर्य हों। वे म्लेच्छों की सारी भाषाओं और लिपियों को जानते थे। वे सरस्वतीपुत्र की भांति सुन्दर भाषण दे सकते थे। भारतवर्ष के सभी देशों के जल-स्थलों के सभी दुर्गों के यातायात का पथ वे जानते थे। मानो शरीरधारी धनुर्वेद हों इस प्रकार समस्त अस्त्रों के संचालन में वे दक्ष थे। उन्होंने स्नान कर प्रायश्चित और कौतुक मंगल किया। शुक्ल पक्ष में जिस प्रकार नक्षत्र कम दिखलाई पड़ते हैं इसी प्रकार उन्होंने बहुत कम मणिमय अलङ्कारों को धारण किया। इन्द्र-धनुष सहित मेघ की भांति गम्भीर, सेनापति

ने धनुष और समुद्र की तरह बहुत दूर तक विस्तृत होने में समर्थ चर्मरत्न को ग्रहण किया। उन्होंने दण्डरत्न ऊँचा किया, इससे वे इस प्रकार शोभित हुए जिस प्रकार पुण्डरीक कमल से सरोवर शोभित होता है। दोनों ओर वीजे जाने वाले चँवरों से वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो वे शरीर में चन्दन तिलक अंकित कर रहे हैं। वाद्यों के शब्दों से वे आकाश को इस प्रकार गुञ्जित कर रहे थे जिस प्रकार वह मेघगर्जना से गुञ्जित होता है। इस प्रकार तैयार होकर सेनापति सिन्धु नदी के प्रवाह के निकट आए। उन्होंने हाथ से चर्मरत्न का स्पर्श किया। जिससे फैलकर उसने जहाज का रूप धारण कर लिया। चर्मरत्न पर सैन्य सहित आरोहण कर सेनापति ने सिन्धु नदी का अतिक्रम किया। लोह स्तम्भ से आबद्ध उन्मत्त हस्ती जिस प्रकार स्तम्भ से छूटता है उसी प्रकार महाबलवान् सेनापति सैन्य सहित सिन्धु प्रवाह का अतिक्रम कर चारों ओर बिखर गए। उन्होंने सिंहल जाति के, बर्बर जाति के, ढेकन जाति के और अन्य म्लेच्छ जाति के एवं यवनों के द्वीपों में जाकर उन पर आक्रमण किया। कालमुख जोनक और वैताढ्य पर्वत के मूल में अवस्थित अनेक म्लेच्छ जातियों से उन्होंने स्वच्छन्द रूप से कर ग्रहण किया। समस्त देशों में श्रेष्ठ कच्छ देश को उन्होंने वृहद् वृषभ की तरह वशीभूत कर लिया। वहाँ से लौटकर समस्त म्लेच्छों पर विजय प्राप्त हो जाने से वहाँ की समतल भूमि पर जल-क्रीड़ा कर बाहर आने वाले हाथी की तरह अवस्थान किया। म्लेच्छों के मण्डप, नगर और ग्राम अधिपतिगण तब इस भाँति आकृष्ट होकर उनके पास आए, जाल में आबद्ध प्राणी आकर्षित होकर जिस प्रकार आते हैं। विभिन्न प्रकार के अलङ्कार, रत्न, सोना-चाँदी, हाथी-घोड़ा, रथ और अन्य अनेक उत्तम पदार्थ जो उनके पास थे लाकर उन्होंने सेनापति को इस भाँति उपहार दिए जिस प्रकार बन्धक रखी वस्तु को लोग लौटा देते हैं। फिर वे सेनापति से बोले—हम आपके वशीभूत होकर कर देने वाले भृत्य की तरह रहेंगे। (श्लोक १५३-१७३)

उपहार स्वीकार उन्हें विदा देने के पश्चात् सेनापतिरत्न चर्मरत्न के ही द्वारा सिन्धु नदी पार होकर चक्रवर्ती के सम्मुख उपस्थित हुए और समस्त उपहार उन्हें समर्पित किए। कहा भी गया है—स्व-भक्ति के कारण बलवानों को लक्ष्मी दासी की भाँति

प्राप्त होती है। नदी जिस प्रकार समुद्र में मिलने आती है उसी प्रकार दूर-दूर से आने वाले राजाओं द्वारा सेवित होकर चक्रवर्ती वहाँ बहुत दिनों तक छावनी डाले अवस्थित रहे।

(श्लोक १७४-१७६)

एक बार उन्होंने तमिस्रा गुहा का दरवाजा खोलने के लिए दण्डरत्न रूपी चाबी को धारण करने वाले सेनापति को आज्ञा दी। उन्होंने तमिस्रा गुहा के निकट जाकर उसके अधिष्ठायक कृतमाल देव को मन ही मन स्मरण कर अष्टम तप किया। कारण, देव तपस्या द्वारा पाए जाते हैं। अष्टम तप के पश्चात् उन्होंने स्नान विलेपन कर शुद्ध वस्त्र पहन कर धूपदानी हाथ में लेकर जैसे देवता के सम्मुख जाते हैं वैसे ही वे गुफा के द्वार के सम्मुख गए। गुफा को देखते ही उन्होंने प्रणाम किया और हाथ में दण्डरत्न लेकर दरवाजे के पास द्वारपाल की तरह खड़े रहे। फिर वहाँ अष्टाह्निका उत्सव और अष्ट मांगलिक चित्रित कर सेनापति ने दण्डरत्न द्वारा गुहाद्वार पर आघात किया। इससे कड़-कड़ शब्द करता हुआ सूखी हुई फली की तरह वह दरवाजा खुल गया। कड़-कड़ शब्द की आवाज सुनकर चक्रवर्ती दरवाजा खुलने की बात जान गए थे फिर भी पुनरुक्ति की तरह सेनापति ने यह बात चक्री को निवेदन की। चक्रवर्ती हस्ती पर आरोहण कर चतुरङ्गिणी सेना सहित मानो वे दिक्‌पाल हों इस प्रकार गुफा के निकट पहुँचे। उन्होंने हस्तीरत्न के दाहिनी ओर के कुम्भ-स्थल पर दीपदान पर रखे दीपक-सा प्रकाशमान मणिरत्न रखा और अस्खलित गति सम्पन्न केशरी सिंह की तरह चक्र के पीछे-पीछे पचास योजन विस्तार युक्त तमिस्रा गुहा की दोनों ओर की दीवार पर गो-मूत्रिका के आकार में पाँच सौ धनुष विस्तार वाले अन्धकार को नाश करने वाले कांकिणीरत्न के उनचालीस मण्डल एक-एक योजन की दूरी पर निर्मित किए। उन्मुक्त गुहाद्वार और कांकिणीरत्न के मण्डल जब तक चक्रवर्ती जीवित रहते हैं तब तक इसी प्रकार रहते हैं। वह मण्डल मनुष्योत्तर के चारों ओर चन्द्र-सूर्य की श्रेणी का अनुसरण करने वाले थे। इसीलिए उनके द्वारा समस्त गुहा आलोकित होती थी। तदुपरान्त चक्री पूर्व दिशा की दीवार से पश्चिम दिशा की दीवार के मध्य प्रवाहित उन्मग्ना और निमग्ना नामक समुद्रगामी दोनों नदियों के निकट आए। उन्मग्ना नदी में फेंकी शिला भी बहती

रहती है और निमग्ना नदी में फेंका तूम्बी का खोल भी डूब जाता है। वर्द्धकीरत्न ने उसी मुहूर्त्त में उन पर एक सेतु का निर्माण किया और चक्रवर्ती ने समस्त सैन्य सहित घर के एक जल-प्रवाह की भांति उन नदियों को पार किया। क्रमशः वे तमिस्रा के उत्तर द्वार पर आए। उसका दरवाजा कमल-कोश की भांति स्वतः ही खुल पड़ा। हस्ती पर आरूढ़ चक्रवर्ती सूर्य जैसे मेघ से निकलता है उसी प्रकार सपरिवार गुहा से बाहर आए। (श्लोक १७७-१९५)

जिनका पतन दुःखदायक है ऐसे भुजबल से उद्धत आपात जाति के भीलों ने सागर की तरह सगर चक्रवर्ती को आते हुए देखा। स्व-अस्त्रों के प्रकाश से चक्री सूर्य का भी तिरस्कार कर रहे थे, पृथ्वी की धूल से खेचर स्त्रियों की दृष्टि को आच्छन्न कर रहे थे, सैन्य भार से पृथ्वी को कम्पित कर रहे थे और तुमुल शब्दों से आकाश और पृथ्वी को बधिर कर रहे थे। वे मानो असमय में पर्दे से बाहर आए हों, आकाश से नीचे उतरे हों, पाताल से ऊँचे उठे हों, ऐसे प्रतीत हो रहे थे। वे अगणित सैन्य से गहन और अग्रगामी चक्र से भयङ्कर लग रहे थे। ऐसे चक्री को आते देखकर वे क्रोध और हास्य-परिहास में परस्पर इस प्रकार बातचीत करने लगे। (श्लोक १९६-२००)

हे पराक्रमी पुरुषो, अप्रार्थितों के लिए प्रार्थनाकारी (मृत्यु अभिलाषी) लक्ष्मी, लज्जा, बुद्धि और कीर्तिवर्जित, सुलक्षणरहित, स्व-आत्मा को वीर कहने वाला और अभिमान में अन्ध यह कौन आया है? और यह कैसी अफसोस की बात है कि बैल केशरी सिंह के अधिष्ठित स्थान में प्रवेश कर रहा है। (श्लोक २०१-२०२)

फिर वह म्लेच्छ पराक्रमी राजा चक्रवर्ती की सना के अग्र-भाग को इस प्रकार उत्पीड़ित करने लगा जैसे असुर इन्द्र को उत्पीड़ित करता है। अल्प क्षणों के मध्य ही सेना के अग्रभाग के हस्ती भागने लगे। अश्व विनष्ट होने लगे, रथों की धुरियाँ भग्न हो गयीं और सारी सेना परावर्तन भाव को प्राप्त हुई अर्थात् छिन्न-भिन्न हो गई। भीलों द्वारा सेना को विनष्ट होते देख चक्रवर्ती के सेनापति ने क्रुद्ध होकर सूर्य की तरह अश्वरत्न पर चढ़कर नवोदित धूमकेतु की तरह खड्ग निष्कासित कर भीलों पर आक्रमण किया। हस्ती जिस प्रकार वृक्ष को नष्ट करता है उसी प्रकार उन्होंने अनेकों

को विनष्ट कर दिया, अनेकों को पीस डाला, अनेकों को भूमिसात कर डाला। (श्लोक २०३-२०७)

सेनापति द्वारा प्रताड़ित किरातगण कमजोर होकर पवन द्वारा प्रताड़ित रुई की तरह अनेक योजन दूर भाग गए। वे सिन्धु नदी के तट पर एकत्र हुए और बालू पर निर्वस्त्र होकर बैठ गए। अत्यन्त दुःखी होकर उन्होंने अपने कुलदेव मेघकुमार और नागकुमार के आह्वान के उद्देश्य से अष्टम भक्त तप किया। तप के अन्त में उन देवों के आसन कम्पित हुए। उन्होंने अवधिज्ञान से मानो सम्मुख ही देख रहे हैं इस भांति किरातों की दुर्दशा देखी। उनकी दुर्दशा से दुःखित होकर पिता की भांति मेघकुमार देव उनके निकट आए और आकाश में अवस्थित रहकर बोले—हे वत्सगण, तुम्हारी इस दुर्दशा का क्या कारण है? मुझे बताओ, ताकि मैं उसका प्रतीकार कर सकूं। (श्लोक २०८-२१३)

किरात बोले—हमारा देश ऐसा है जहां बहुत कष्ट और कठिनाई के पश्चात् ही कोई प्रवेश कर सकता है; किन्तु समुद्र में बड़वानल की भांति किसी ने यहां प्रवेश किया है। उनसे पराजित होकर हम आपकी शरण में आए हैं। आप ऐसा कुछ करिए जिससे जो आए हैं वे चले जाए और फिर नहीं लौटें। (श्लोक २१४-२१५)

देवताओं ने कहा—जैसे पतंगा अग्नि को नहीं पहचानता वैसे ही तुम लोग भी उन्हें नहीं जानते। ये महापराक्रमी सगर नामक चक्रवर्ती हैं। इन्हें सुर-असुर कोई भी पराजित नहीं कर सकता। इनकी शक्ति इन्द्र के समान है। ये अग्नि, मन्त्र, विष, जल और तन्त्र-विद्या के लिए अगोचर हैं अर्थात् कोई भी उन पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। वज्र से उनका कोई भी अनिष्ट नहीं कर सकता। इसलिए तुम लोगों के प्रयास का भी उतना ही फल होगा जितना मच्छरों के उपद्रवों का हाथी पर होगा।

(श्लोक २१६-२१९)

तदुपरान्त वे मेघकुमार देव वहां से अदृश्य हो गए और उन्होंने चक्रवर्ती की सेना पर आफत ढायी। उन्होंने घन अन्धकार से दिक्-समूहों को इस भांति भर डाला जिससे जन्मान्ध मनुष्य की भांति वे किसी को भी देख नहीं पाए। फिर उन्होंने सात दिन, सात रात चक्रवर्ती की छावनी पर मूसलाधार वृष्टि की। प्रलयकाल की भांति उस भीषण वर्षा को देखकर चक्रवर्ती ने अपने हस्त-कमल

द्वारा चर्मरत्न का स्पर्श किया। साथ ही साथ जहां तक छावनी विस्तृत थी वहां तक वह तिर्यङ्काकार जल पर प्रवाहित होने लगा। चक्रवर्ती ने सेना सहित उस पर आश्रय लिया। फिर इन्होंने छत्र-रत्न का स्पर्श किया इससे वह भी चर्मरत्न की तरह विस्तृत होकर समस्त छावनी पर मेघ की तरह छा गया। तदुपरान्त आलोक के लिए चक्री ने छत्र-रत्न के डण्डे पर मणिरत्न रखा। इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्दर जिस प्रकार असुर और व्यन्तर देव रहते हैं उसी प्रकार चर्मरत्न और छत्ररत्न के मध्य चक्रवर्ती समस्त सेना सहित सुखपूर्वक रहने लगे। गृहाधिपरत्न दाल-चावल, साग-सब्जी, फल इत्यादि सुबह बोकर शाम को ही उत्पन्न करने लगा। कारण, उस रत्न का माहात्म्य ही ऐसा है। मेघकुमार देव भी अखण्ड धारा से उसी प्रकार वर्षा करते रहे जैसे दुष्ट की दुष्ट वाणी बरसती है। (श्लोक २२०-२२९)

एक दिन सगर चक्रवर्ती कुपित होकर सोचने लगे—कौन है वह जो हमें इस प्रकार कष्ट दे रहा है? उनके निकट रहने वाले सोलह हजार देवों ने यह बात सुनी। वे कवच पहन, अस्त्र-शस्त्र धारण कर मेघकुमार देवों के पास गए और बोले—ओ अल्पबुद्धि नीचो, क्या तुम लोग नहीं जानते कि चक्रवर्ती देवताओं के लिए भी अजेय हैं? यदि अब भी तुम अपना मंगल चाहते हो तो यहां से चले जाओ। अन्यथा वे तुम्हें कदली वृक्ष की तरह नष्ट-विनष्ट कर डालेंगे। (श्लोक २३०-२३३)

यह सुनकर मेघकुमार देव वृष्टि बन्द कर जल में मछली की तरह छिप गए और आपात जातीय किरातों के पास जाकर बोले—हम चक्रवर्ती को नहीं जीत सकते। यह सुनकर किरात स्त्रियों के वस्त्र धारण कर एवं भयभीत बने रत्नों के उपहार लेकर सगर राजा की शरण में गए। वहां उनकी अधीनता स्वीकार कर उनके चरणों में गिरे एवं हाथ जोड़कर कहने लगे—हम अज्ञानी और दुर्मद हैं इसीलिए अष्टापद पशु जिस प्रकार मेघ की ओर कूदता है उसी प्रकार हमने आपको कष्ट देना चाहा था। हे प्रभु! आप हम लोगों के इस अविवेक कार्य के लिए क्षमा करें। आज से हम आप की आज्ञा का पालन करेंगे। आपके सामन्त और सेवक बनकर रहेंगे। हमारी स्थिति अब आपके हाथ में है। (श्लोक २३४-२४०)

प्रणिपात तक ही महात्माओं का क्रोध रहता है। चक्रवर्ती ने उपहार ग्रहण किए और कहा—उत्तर भारतार्द्ध के सामन्तों की भांति तुम भी कर दो और सेवक होकर रहो। उनके स्वीकार कर लेने पर चक्री ने उन्हें विदा दी और स्व-सेनापति को सिन्धु का पश्चिम भाग जय करने की आज्ञा दी। (श्लोक २४१-२४२)

उन्होंने पूर्व की भांति चर्मरत्न से सिन्धु नदी पार कर हिमवन्त पर्वत और लवण समुद्र में स्थित सिन्धु के पश्चिम भाग को जीत लिया। प्रबल पराक्रमी दण्ड धारण करने वाले सेनापति म्लेच्छों से कर लेकर जल भरे मेघ की भांति सगर चक्री के निकट आए। विविध प्रकार के भोग-उपभोग करते हुए अनेक राजाओं द्वारा पूजित होते हुए चक्रवर्ती बहुत दिनों तक वहां रहे। पराक्रमी पुरुषों के लिए कोई भी स्थान विदेश नहीं होता।

(श्लोक २४३-२४५)

एक दिन ग्रीष्म ऋतु के सूर्य-बिम्ब की तरह चक्ररत्न आयुधशाला से निकलकर पूर्व के मध्य भाग की ओर चलने लगा। चक्र के पीछे चलते हुए महाराज क्षुद्र हिमालय के दक्षिण नितम्ब के निकट आए और वहां छावनी डाली। उन्होंने क्षुद्र हिमालय नामक देव को स्मरण कर अष्टम तप किया और वे पौषधशाला में पौषध व्रत ग्रहण कर अवस्थित हुए। तीन दिनों के पौषध के अन्त में वे रथ पर आरूढ़ होकर हिमालय पर्वत के निकट आए। हस्ती जिस प्रकार दांत से प्रहार करता है उसी प्रकार उन्होंने रथ के अग्रभाग से पर्वत पर तीन बार आघात किया। चक्री ने वहां रथ के घोड़े को रोककर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई एवं निज नामाङ्कित तीर को निक्षेप किया। वह तीर मानो एक कोश की दूरी पर ही गिरा हो इस भांति बहत्तर योजन दूर स्थित क्षुद्र हिमालय देव के सम्मुख जाकर गिरा। तीर गिरते देखकर देव क्षणमात्र के लिए तो क्रोध से कांप उठे; किन्तु ज्योंही तीर पर लिखित नाम को पढ़ा त्योंही शान्त हो गए। तत्पश्चात् गो-शीर्ष चन्दन, सब प्रकार की औषधियां, पद्मह्रद का जल, देवदूष्य वस्त्र, तीर, रत्नों के अलङ्कार और कल्पवृक्ष की पुष्पमाला आदि आकाश में अवस्थित रहकर चक्रवर्ती को भेंट किए और उनकी सेवा स्वीकार की। 'चक्रवर्ती की जय हो' शब्द उच्चारित करते हुए उन्होंने चक्री को सम्वर्द्धित किया। (श्लोक २४६-२५४)

उन्हें विदा कर चक्री रथ-प्रत्यावृत्त कर ऋषभकूट पर्वत पर पहुंचे। वहां भी उन्होंने पर्वत पर रथ के अग्रभाग से तीन बार आघात किया और अश्व को संयत कर पर्वत के पूर्व भाग में कांकिणी रत्न से लिखा—मैं इस अवसर्पिणी का द्वितीय चक्रवर्ती हूं। फिर वहां से रथ द्वारा छावनी लौट आए और अष्टम तप का पारना किया। जिनकी दिग्विजय की अभिलाषा पूर्ण हुई ऐसे सगर राजा ने महा धूमधाम से हिमाचलकुमार के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। (श्लोक २५५-२५८)

वहां से रथ के पीछे चलते हुए उत्तर-पूर्व के पथ पर चक्री सुखपूर्वक गङ्गा के सम्मुख उपस्थित हुए। वहां गङ्गा किनारे छावनी डालकर एवं गङ्गादेवी के उद्देश्य से अष्टम भक्त की तपस्या की। गङ्गादेवी ने भी सिन्धुदेवी की भांति अष्टम तप के अनन्तर आसन कम्पित होने से चक्रवर्ती आए हैं यह जानकर आकाश में स्थित रहकर महाराज को रत्नों के एक हजार आठ कुम्भ, स्वर्ण-माणिक्य आदि द्रव्य और रत्नों के दो सिंहासन उपहार में दिए। सगर राजा ने गङ्गा देवी को विदा कर अष्टम तप का पारणा किया और आनन्दपूर्वक देवी की कृपा के लिए उनका अष्टाह्निका उत्सव किया। (श्लोक २५९-२६३)

वहां से चक्र प्रदर्शित पथ से चलते हुए चक्री दक्षिण दिशा के खण्डप्रपाता गुहा की ओर गए। वहां पहुँचकर खण्डप्रपाता के निकट छावनी डाली एवं नाटचमाल देव को स्मरण कर अष्टम तप किया। अष्टम तप के अन्त में नाटचमाल देव स्व-आसन कम्पित होने से चक्रवर्ती का आगमन अवगत कर ग्रामपति की भांति उपहार लेकर उनके निकट गए। उन्होंने नाना प्रकार के अलङ्कार चक्रवर्ती को भेंट किए और माण्डलिक राजा की तरह नम्र होकर उनकी सेवा स्वीकृत की। उन्हें विदा देने के पश्चात् चक्री ने पारणा किया और प्रफुल्लित हृदय से उनका अष्टाह्निका महोत्सव किया। मानो यह उपकार का प्रत्युपकार था।

(श्लोक २६४-२६८)

तत्पश्चात् चक्री की आज्ञा से सेनापति ने अर्द्ध सैन्य लेकर सिन्धु की भांति गंगा के पूर्व भाग को जय किया। (श्लोक २६९)

इसके बाद चक्री ने वैताढच पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों के राजाओं को शीघ्र ही जय कर लिया। उन्होंने रत्न-

अलङ्कार, वस्त्र, हस्ती और अश्व चक्री को उपहार में दिए और उनकी सेवा स्वीकार की। महाराज सगर ने विद्याधरों को सम्मानित कर उन्हें विदा दी। जो बड़े हैं वे 'मैं आपका सेवक हूं' सुनकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। (श्लोक २७०-२७२)

चक्री की आज्ञा से सेनापति ने तमिस्रा गुहा की तरह अष्टम तप कर खण्ड प्रपाता गुहा का द्वार खोला। फिर राजा सगर हस्ती पर चढ़कर जिस प्रकार मेरुशिखर पर सूर्य रहता है उसी प्रकार हस्ती के दक्षिणी कुम्भस्थल पर मणि रखकर उस गुफा में प्रविष्ट हुए। पूर्व की भाँति ही गुहा के दोनों ओर कांकिणीरत्न का मण्डल बनाया और उन्मग्ना एवं निमग्ना नामक नदी को पार कर अपने हाथों से खोले दक्षिणी गुहा द्वार से राजा सगर नदी प्रवाह की भाँति बाहर आए। (श्लोक २७३-२७६)

फिर गङ्गा के पूर्वी तट पर छावनी डाली। वहाँ नवनिधि का ध्यान कर अष्टम तप किया। तप के अन्त में नैसर्प, पाण्डु, पिंगल, सर्वरत्नक, महापद्म, काल, महाकाल, मानव और शङ्ख इन नौ नामों की नवनिधि चक्रवर्ती के निकट प्रकट हुई। इन प्रत्येक निधियों के साथ हजार-हजार देव रहते हैं। वे चक्री से बोले—हे महाभाग, हम गङ्गा के मुहाने पर मगध तीर्थ पर वास करते हैं; किन्तु आपके महापुण्य से वशीभूत होकर हम आपके पास आए हैं। आप इच्छानुसार हमारा उपभोग करें या किसी को दें। हो सकता है क्षीर समुद्र समाप्त हो जाए; किन्तु हमारा क्षय कभी नहीं होता। हे देव, नौ हजार सेवकों से रक्षित बारह योजन विस्तार युक्त और नौ योजन प्रशस्त विशिष्ट आठ चक्र पर स्थित हम आपके सेवक की तरह पृथ्वी पर साथ-साथ रहेंगे। (श्लोक २७७-२८३)

उनका कथन स्वीकृत कर चक्री ने पारणा किया। अतिथि की भाँति उनका अष्टाह्निका महोत्सव किया। (श्लोक २८४)

सगर राजा की आज्ञा से नदी के पूर्व दिशा में रहे निष्कूट को भी सेनापति ने ग्राम की तरह जीत लिया। गङ्गा और सिन्धु नदी के दोनों ओर चार निष्कूट और उनमें दो खण्डों में स्थित भरत क्षेत्र को षट्-खण्ड कहा जाता है। इन छह खण्डों को चक्री ने बत्तीस हजार वर्षों में धीरे-धीरे सुखपूर्वक जय कर लिया। शक्तिमान पुरुषों की प्रवृत्ति उत्सुकतारहित लीलापूर्वक ही होती है। (श्लोक २८५-२८७)

महाराज सगर चक्रवर्ती चौदह रत्नों के स्वामी थे, नवनिधि के ईश्वर। बत्तीस हजार राजा उनकी सेवा करते थे। बत्तीस हजार राजकन्याएँ एवं बत्तीस हजार अन्य स्त्रियाँ कुल चौसठ हजार रानियाँ उनके अन्तःपुर में थीं। वे बत्तीस हजार देश के स्वामी थे, बत्तीस हजार बड़े-बड़े नगरों पर उनका अधिकार था। निन्यानवे हजार द्रोणमुख के वे प्रभु थे, अड़तालीस हजार पत्तनों के अधिकारी थे। चौबीस हजार कर्वट और मण्डव के अधिपति, चौदह हजार संवाहक के स्वामी, सोलह हजार खेटक के रक्षक और इकत्तीस हजार आकर के नियन्ता थे। उन्चास कुराज्यों के वे नायक थे। छप्पन अन्तरोदक के पालक, छियानवे करोड़ गांवों के स्वामी थे। उनके छियानवे करोड़ पदातिक, चौरासी लाख हस्ती, चौरासी लाख अश्व, चौरासी लाख रथ थे, जिनसे वे पृथ्वी को आच्छादित किए थे। ऐसे महाऋद्धि सम्पन्न चक्रवर्ती चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए द्वीपान्तर से जिस भांति जहाज प्रत्यावर्तन करता है उसी भांति उन्होंने प्रत्यावर्तन किया। (श्लोक २८८-२९७)

राह में ग्रामपति, दुर्गपाल और मण्डलेश्वरों ने द्वितीया के चन्द्र की तरह उनकी भक्ति की। अभ्यर्थनकारी पुरुष की तरह आकाश में उड़ी हुई धूल ने दूर से ही उनके आगमन की सूचना दी। मानो स्पर्धा से विस्तारित हो रहा हो इस प्रकार अश्वों का हृेषारव, हस्तियों का वृंहतिनाद, चारणों का आशीर्वाद और वाद्ययन्त्रों के शब्दों ने आकाश को बधिर कर डाला। इस भांति सर्वदा सुखपूर्वक एक-एक योजन गमनकारी सगर राजा मानो अपनी प्रिय पत्नी के निकट जा रहे हों इस प्रकार अयोध्यानगरी के निकट पहुँचे। पराक्रम में पर्वत तुल्य राजा ने विनीता नगरी के समीप समुद्र की तरह छावनी डाली। (श्लोक २९८-३०२)

एक दिन समस्त कलाओं के भण्डार सगर चक्रवर्ती अश्व क्रीड़ा के लिए वायु की भांति गतिशील और बिपरीत शिक्षा-सम्पन्न अश्व पर चढ़े। वे उस चतुर अश्व को उत्तरोत्तर वेग से दौड़ाने लगे। जब वे उसे अति वेग से दौड़ा रहे थे उस समय भूत ने पकड़ा हो इस प्रकार लगाम की उपेक्षा कर वह अश्व आकाश में उत्पतित हुआ। मानो अश्व रूपी राक्षस हो ऐसे समय की भांति तेजी से उड़कर वह राजा को एक महारण्य में ले गया। क्रोध में भरे चक्री लगाम खींचकर और हाथों के जोर से उसे खड़ा कर कूदकर

नीचे उतरे। क्लान्त और त्रस्त अश्व भी जमीन पर गिर पड़ा। चक्री वहां से पैदल ही रवाना हुए। थोड़ी दूर जाने के पश्चात् ही उन्हें एक सरोवर मिला। सूर्य-किरण से तप्त धरती पर वह चन्द्रिका-सा लग रहा था। सगर चक्रवर्ती ने क्लान्ति दूर करने के लिए वन्य हस्ती की तरह सरोवर में स्नान किया और स्वादिष्ट, स्वच्छ, कमल-सुगन्ध से सुवासित शीतल जल का पान किया। जब वे सरोवर से बाहर निकल कर तट पर आ बैठे थे तभी एक जलदेवी-सी युवती को देखा। नवीन प्रस्फुटित कमल-सा उसका मुख था, नील कमल-सी आँखें। उसकी देह पर सौन्दर्य जल तरंगित हो रहा था। युग्म चक्रवाक पक्षी-से दोनों स्तन और वर्तुलित स्वर्ण कमल-से हाथ-पैरों के कारण वह अत्यन्त सुन्दर लग रही थी। शरीरधारिणी सरोवर लक्ष्मी-सी उस स्त्री को देखकर चक्री विचार करने लगे—यह क्या अप्सरा, व्यन्तरी, नागकन्या या विद्याधरी है? कारण, सामान्य स्त्री इतनी सुन्दर नहीं होती। अमृत-वृष्टि के सहोदर तुल्य इसका रूप हृदय को जितना आनन्द दे रहा है उतना सरोवर का जल भी नहीं देता। (श्लोक ३०३-३१५)

उसी समय कमलनयनी उस स्त्री ने भी अनुराग भरी दृष्टि से चक्री को देखा। उस समय उसकी स्थिति सूख गई कमलिनी-सी, कामदेव द्वारा पीड़िता-सी हो गई। अतः उसकी सखियां जैसे-तैसे उसे निवास स्थान पर ले गयीं। महाराज सगर भी कामातुर होकर धीरे-धीरे सरोवर-तट पर विचरने लगे। उसी समय एक कंचुकी सगर चक्री के सम्मुख आई और हाथ जोड़कर बोलने लगी—हे स्वामी, इस भरत क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत पर सम्पत्ति-सी प्रिय ऐसी 'गगनवल्लभ नामक एक नगरी है। वहां सुलोचन नामक एक प्रसिद्ध विद्याधरपति थे। वे इस भांति वहां रहते थे जैसे अलकापुरी में कुबेर रहते हैं। उनके सहस्रनयन नामक एक नीतिवान पुत्र है और निखिल नारियों में शिरोमणि-सी सुकेशा नामक एक कन्या है। इस कन्या ने जब जन्म लिया था ज्योतिषियों ने तभी कहा था—यह कन्या चक्रवर्ती की पट्टरानी और स्त्री-रत्न होगी। रथनुपुर के राजा पूर्णमेघ ने उससे विवाह करने की इच्छा कितनी ही बार व्यक्त की; किन्तु उसके पिता ने पूर्णमेघ की बात स्वीकार नहीं की। तब जबर्दस्ती उसे अपहरण कर ले जाने की इच्छा से गरजते हुए वह युद्ध करने आया। दीर्घ भुजाओं वाले

पूर्णमेध ने बहुत दिनों तक युद्ध करने के पश्चात् कभी नहीं टूटने वाली निद्रा में सुलोचन को निद्रित कर दिया। तब सहस्रनयन धन की तरह अपनी बहन को लेकर यहां आ गया। वह अभी सपरिवार यहीं रहता है। हे महात्मन्! सरोवर में क्रीड़ा करते समय उस सुकेशा ने आपको देखा है एवं जब से आपको देखा है तभी से कामदेव ने वेदनामय विकार से उसे दण्डित किया है। मानो ग्रीष्म द्वारा पीड़ित हो इस प्रकार श्वेद जल से उसको देह भर गई है। डर गई हो इस प्रकार उसका शरीर कांपता है। मानो रोगाक्रान्त हो गई हो इस भांति शरीर का रंग ही पलट गया है। जैसे शोक में निमग्न हो इस भांति उसकी आंखों से अश्रु बह रहे हैं। योगिनी-सी वह किसी ध्यान में निमग्न है। हे जगत्त्राता, आपको देखकर क्षणमात्र में उसकी अवस्था विचित्र प्रकार की हो गई है। अतः वह मृत्यु की शरण ले उसके पूर्व ही आप चलकर उसकी रक्षा करें।

(श्लोक ३१६-३३०)

अन्तःपुराध्यक्षा स्त्री जब यह कह रही थी उसी समय सहस्र-नयन भी आकाश-पथ से वहां आया और चक्री को नमस्कार किया। वह चक्री को सादर स्व-निवास स्थान पर ले गया और उसने स्त्री-रत्न अपनी बहन सुकेशा को दान कर चक्री को सन्तुष्ट किया। फिर सहस्रनयन और चक्री विमान में बैठकर वैताढ्य पर्वत स्थित गगनवल्लभ नगर में गए। वहां चक्री ने सहस्रनयन को उसके पिता के राज्य पर अभिषिक्त कर विद्याधरों का अधिपति बना दिया।

(श्लोक ३३१-३३४)

तदुपरान्त इन्द्र-से पराक्रमी सगर चक्रवर्ती स्त्री-रत्न को लेकर अयोध्या की अपनी छावनी में लौट आए। वहां उन्होंने विनीता नगरी के उद्देश्य से अष्टम तप किया और विधि अनुसार पौषधशाला में जाकर पौषधव्रत ग्रहण कर लिया। अष्टम तप के अन्त में वे पौषधशाला से बाहर आए और सपरिवार पारणा किया। फिर वासकसज्जिका नायिका की तरह अयोध्यापुरी में प्रवेश किया। वहां स्थान-स्थान पर तोरण बंधे हुए थे। उससे वह भृकुटि युक्त स्त्री-सी लग रही थी। विपणियों की शोभा के लिए बंधी पताकाएं पवन द्वारा आन्दोलित होकर ऐसी लग रही थीं मानो नृत्य के लिए हाथ ऊँचे किए हों। धूपदानियों से निकलने वाला धुम्रां पंक्ति रूप धारण कर ऐसा लग रहा था मानो वह अपनी देह

पर पत्रवल्ली अङ्कित कर रहा हो। प्रत्येक मण्डप में रत्नपत्रिका सिली हुई थी उससे ऐसा लग रहा था मानो वह नेत्र विस्तारित कर रहा है। विचित्र प्रकार की मञ्च-रचनाओं से वहां मानो उत्कृष्ट शय्या विस्तृत है ऐसा प्रतीत हो रहा था। क्रमशः नगर में चलते हुए चक्रवर्ती जैसे इन्द्र स्व विमान में आते हैं उसी प्रकार उच्च तोरण युक्त पताकाओं से शोभित चारणभाट द्वारा मांगलिक गीतों से मुखरित अपने गृहांगन में आए। फिर महाराज ने सर्वदा अपने साथ रहने वाले सोलह हजार देवता, बत्तीस हजार राजा, सेनापति, पुरोहित, गृहपति और वर्द्धकी नामक चार महारत्न, तीन सौ साठ रसोइए, श्रेणी-प्रश्रेणी, दुर्गपालक, श्रेष्ठी, सार्थवाह और अन्य समस्त राजाओं को अपने-अपने स्थान पर लौट जाने की आज्ञा दी। तदुपरान्त उन्होंने अन्तःपुर के परिवार और स्त्री-रत्न सहित सत्पुरुषों के मन-से विशाल और उज्ज्वल मन्दिर में प्रवेश किया। वहां स्नानगृह में स्नान और देवालय में पूजा कर राजा ने भोजनगृह में जाकर भोजन किया। (श्लोक ३३५-३४७)

अब साम्राज्य-लक्ष्मी रूपी लता के फल की भांति चक्री संगीत, नाटक आदि विनोद कार्यों में समय व्यतीत करने लगे।

(श्लोक ३४८)

एक दिन एक देव ने आकर महाराज सगर को कहा—राजन्, आपने भरत क्षेत्र को वश में किया है इसलिए इन्द्र जिस प्रकार अर्हतों का जन्माभिषेक उत्सव करते हैं उसी प्रकार हम आपको चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त करने का महोत्सव करेंगे।

(श्लोक ३४९-३५०)

यह सुनकर चक्रवर्ती ने भृकुटि संचालन द्वारा सहज ही सहमति दे दी। कारण, महात्मा स्नेही लोगों के स्नेह का खण्डन नहीं करते। (श्लोक ३५१)

अतः अभिषेक के लिए आभियोगिक देवों ने नगर के ईशान कोण में एक रत्नजड़ित मण्डप का निर्माण किया। वे समुद्र, तीर्थ, नदी और द्रहों का पवित्र जल एवं पर्वतों से औषधियां लाए। जब सब कुछ प्रस्तुत हो गया तब चक्री ने अन्तःपुर और स्त्री-रत्न सहित रत्नाचल की गुफा की भांति उस रत्न-मण्डप में प्रवेश किया। वहां उन्होंने सिंहासन सहित मणिमय स्नानपीठ की अग्निहोत्री जिस प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा देता है उसी प्रकार प्रदक्षिणा दी

ग्रौर ग्रन्तःपुर सहित पूर्व दिशा के सोपानों से उस पीठ पर ग्रारोहण कर उस पूर्वाभिमुखी सिंहासन को ग्रलंकृत किया। बत्तीस हजार राजा भी जिस प्रकार कमल-खण्ड पर ग्रारोहण करता है उसी प्रकार उत्तर दिशा के सोपानों से ऊपर उठकर सामानिक देवता जिस प्रकार इन्द्र के सम्मुख बैठते हैं उसी प्रकार करबद्ध होकर दृष्टि ग्रानमित कर राजा सगर के सामने ग्रपने-ग्रपने स्थानों पर जा बैठे। सेनापति, गृहपति, पुरोहित ग्रौर वर्द्धकीरत्न, इसी प्रकार श्रेष्ठी, सार्थवाह ग्रौर ग्रन्य ग्रनेक मनुष्य जिस प्रकार ग्राकाश में नक्षत्र रहते हैं उसी प्रकार दक्षिण दिशा के सोपानों से ऊपर चढ़ स्नान-पीठ पर स्व-स्व ग्रासन पर जा बैठे। तदुपरान्त शुभ दिन, वार, नक्षत्र, करण, योग, चन्द्र ग्रौर समस्त ग्रहों के बल-सम्पन्न लग्न में देवगणों ने स्वर्ण के, रौप्य के, रत्नों के, जिनके मुख पर कमल रखे हुए हैं ऐसे कलशों से सगर राजा के चक्रवर्ती पद का ग्रभिषेक किया। चित्रकार जिस प्रकार ग्रङ्कित करने वाली दीवार को स्वच्छ करता है उसी प्रकार इन्द्र ने देवदूष्य वस्त्र से धीरे-धीरे राजा के शरीर को पोंछा। तत्पश्चात् ग्राकाश में चन्द्रिका की तरह मलयाचल के सुगन्धित चन्दनादि से राजा के ग्रङ्गों पर विलेपन किया। ग्रपने दृढ़ ग्रनुराग की भांति दिव्य ग्रौर ग्रति सुगन्धयुक्त फूलों की माला राजा को पहनाई ग्रौर ग्रपने लाए हुए देवदूष्य वस्त्र ग्रौर रत्नालङ्कारों से चक्री को भूषित किया। तब महाराज ने मेघ-ध्वनि जैसी वाणी में नगराध्यक्ष को ग्रादेश दिया कि नगर में ढिंढोरा पिटवा कर यह घोषित करवाग्रो कि बारह वर्ष पर्यन्त कोई कर नहीं लिया जाएगा एवं सैन्य नगर में प्रवेश नहीं करेगी। किसी को सजा नहीं दी जाएगी ग्रौर सर्वदा उत्सव होंगे।

(श्लोक ३५२-३६८)

नगर ग्रध्यक्ष ने स्व-व्यक्तियों को हस्ती-पृष्ठ पर बैठाकर समस्त नगर में राजाज्ञा घोषित करवाई। इस प्रकार स्वर्ग के विलास-वैभव को ग्रपहरण करने के व्रतवाली विनीता नगरी में छह खण्ड पृथ्वी के ग्रधिपति महाराज सगर चक्रवर्ती पदाभिषेक सूचितकारी उत्सव को बारह वर्ष तक प्रत्येक विपणि में, प्रत्येक गृह में, प्रत्येक पथ पर करवाया।

(श्लोक ३६९-३७०)

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

एक बार देवों द्वारा निरन्तर सेवित भगवान अजितनाथ स्वामी साकेत नगरी के उद्यान में उपस्थित हुए। इन्द्रादि देव और सगरादि राजा यथायोग्य स्थान में आकर उपवेशित हुए। तब वे धर्मोपदेश देने लगे। उसी समय पिता के वध की बात स्मरण कर क्रोधित सहस्रनयन ने वैताढ्य पर्वत पर गरुड़ जिस प्रकार सर्प की हत्या करता है उसी प्रकार निज शत्रु पूर्णमेघ की हत्या कर दी। पूर्णमेघ का पुत्र धनवाहन वहाँ से भागा और शरणागत होने के लिए समवसरण में आया एवं भगवान अजितनाथ की तीन प्रदक्षिणा देकर पथिक जैसे वृक्ष के नीचे बैठता है उसी प्रकार प्रभु-चरणों के निकट बैठ गया। उसके पीछे-पीछे हाथ में अस्त्र लिए सहस्रनयन भी यह कहता हुआ आया कि मैं उसे पाताल से खींचकर, स्वर्ग से उठाकर, बलवान की शरण से हटाकर उसकी हत्या करूँगा। जैसे ही उसने धनवाह को समवसरण में बैठे देखा प्रभु प्रताप से उसी मुहूर्त में सहस्रनयन का क्रोध शान्त हो गया। उसने अस्त्र त्याग कर प्रभु की तीन प्रदक्षिणा की और योग्य स्थान में जा कर बैठ गया। इस पर सगर चक्री ने भगवान से पूछा—हे प्रभो, पूर्णमेघ और सुलोचन की शत्रुता का क्या कारण है?

(श्लोक १-९)

भगवान ने कहा—बहुत पहले सूर्यपुर नगर में भगवान नामक एक कोटिपति वणिक रहता था। एक समय वह अपना समस्त द्रव्य स्व-पुत्र हरिदास को सौंपकर वाणिज्य के लिए विदेश गया। वह बारह वर्षों तक विदेश में रहा। तत्पश्चात् खूब धन उपार्जन कर लौट आया और रात्रि में नगर के बाहर रहा। वह अपने आदमियों को वहीं छोड़कर स्वयं रात्रि में ही अपने घर गया क्यों कि उत्कण्ठा बड़ी बलवान होती है। उसके पुत्र हरिदास ने उसे चोर समझकर तलवार से मार डाला। (श्लोक १०-१४)

अल्पबुद्धि लोग विचार नहीं करते। स्वयं को जिसने मारा पहचानते हुए भी उसके प्रति उसी समय उत्पन्न द्वेष-भाव लिए ही वह मर गया। हरिदास ने जब अपने पिता को पहचाना तो अज्ञानकृत उस अयोग्य कार्य के लिए उसके मन में भारी दुःख हुआ। उसने पश्चात्ताप करते हुए पिता का अग्निदाह-संस्कार

किया। कुछ दिनों बाद हरिदास भी मर गया। इस बार उन दोनों ने ही बड़ा दुःखदायक जन्म व्यतीत किया। इस जन्म के पश्चात् सुकृत के योग से भगवान् पूर्णमेघ के रूप में और हरिदास सुलोचन के रूप में जन्मे। इस भाँति हे राजन्, पूर्णमेघ और सुलोचन का प्रासंगिक वैर पूर्व जन्म से ही चला आ रहा है। फिर इस जन्म में तो कारण उत्पन्न होने के कारण वैर हुआ है। (श्लोक १५-१९)

सगर राजा ने पुनः पूछा—इन दोनों के पुत्रों के मध्य वैर का कारण क्या है? इस सहस्रनयन के लिए मेरे मन में प्रेम भाव क्यों जागृत हो रहा है? (श्लोक २०)

अजितनाथ स्वामी ने प्रत्युत्तर दिया—कई जन्म पूर्व तुम रम्भक नामक संन्यासी थे। उस समय तुम्हारे शशि और आवली नामक दो शिष्य थे। उनमें आवली नामक शिष्य नम्र होने के कारण तुम्हें अत्यन्त प्रिय था। एक दिन उसने गाय खरीदने के लिए बातचीत तय की। इसी मध्य कठोरहृदय शशि वहां आया। उसने गाय के मालिक को अपनी ओर कर गाय स्वयं खरीद ली। इससे दोनों में झगड़ा हुआ। खूब केशाकेशी, मुक्का-मुक्की, लाठी-लठौवल हुई। अन्ततः शशि ने आवली को मार डाला। अनेक जन्मों में परिभ्रमण करने के पश्चात् शशि घनवाहन और आवली सहस्रनयन हुआ। इन दोनों के वैर का मात्र यही कारण है। दान के प्रभाव से अच्छी गतियों में परिभ्रमण करते हुए रम्भक के जीव तुम इस जन्म में चक्रवर्ती बने हो। सहस्रनयन के प्रति तुम्हारा स्नेह पूर्व जन्म से ही चला आ रहा है।
(श्लोक २१-२६)

उसी समय समवसरण में भीम नामक राक्षसपति बैठा था। उसने द्रुतगति से आकर घनवाहन का आलिंगन किया और बोला—पुष्करवर द्वीप में भरत क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत पर कांचनपुर नामक नगर में मैं विद्युतदंष्ट्र नामक राजा था। उस जन्म में तुम रतिवल्लभ नामक मेरे पुत्र थे। हे वत्स, तुम मुझे बहुत प्रिय थे। अच्छा हुआ आज तुमसे साक्षात्कार हुआ। इस समय भी तुम मेरे पुत्र हो। अतः मेरी सेना और जो कुछ भी मेरा है। उसे ग्रहण करो। लवण समुद्र में देवताओं के लिए भी अजेय सर्व दिशाओं में सात सौ योजन विस्तारयुक्त, समस्त द्वीपों में श्रेष्ठ राक्षस नामक एक द्वीप है। उस द्वीप के मध्य भाग में पृथ्वी की नाभि मेरु

पर्वत की तरह चित्रकूट नामक एक पर्वत है। वह ऋद्धि-सम्पन्न पर्वत वलयाकृति, नौ योजन ऊँचा, पचास योजन विस्तारयुक्त और अक्षां हीं दुर्गम है। उस पर मैंने सुवर्ण गृह और तोरण युक्त लंका नामक नगरी बसाई है। वहाँ से छह योजन नीचे पृथ्वी में शुद्ध स्फटिक रत्नों का गढ़ व विभिन्न प्रकार के रत्नों के गृह युक्त एक सौ पच्चीस योजन लम्बी और चौड़ी पाताल लंका नामक अत्यंत प्राचीन और दुर्गम नगरी है। वह नगरी भी मेरे अधिकार में है। हे वत्स, तुम इन दोनों नगरियों को ग्रहण करो और इनके राजा बनकर तीर्थंकर भगवान के दर्शनों का फल अभी ही प्राप्त करो। (श्लोक २७-३७)

ऐसा कहकर राक्षसपति ने नौ माणिक्य रचित एक बृहद् हार और राक्षसी-विद्या उसे दे दी। घनवाहन भी उसी मुहूर्त्त में भगवान् अजितनाथ को नमस्कार कर राक्षस द्वीप गया और दोनों लङ्काओं का राजा बन गया। राक्षस-द्वीप और राक्षसी-विद्या के कारण घनवाहन का वंश तभी से राक्षसवंश के नाम से अभिहित होने लगा। (श्लोक ३८-४०)

वहाँ से विहार कर सर्वज्ञ प्रभु अन्यत्र चले गए। सुरेन्द्र एवं सगरादि भी अपने-अपने स्थान को लौट गए। (श्लोक ४१)

अब राजा सगर चौसठ हजार स्त्रियों के साथ रतिसागर में निमग्न होकर इन्द्र की भाँति विलास करने लगे। स्त्रीरत्न के अलावा अन्य स्त्रियों के साथ सम्भोग करते समय उन्हें जो ग्लानि होती वह स्त्रीरत्न के सम्भोग से उसी प्रकार दूर हो जाती जिस प्रकार दक्षिण पवन से पथिकों की क्लान्ति दूर हो जाती है। इस भाँति हमेशा विषय सुख भोग करते हुए राजा सगर के जह्नुकुमार आदि साठ हजार पुत्र हुए। उद्यानपालिकाओं द्वारा पालित वृक्ष जिस प्रकार बढ़ता है उसी प्रकार धात्री माताओं द्वारा पालित सगर के पुत्र भी क्रमशः बड़े होने लगे। वे चाँद की तरह समस्त कलाओं को ग्रहण कर शरीर की लक्ष्मी-रूप लता के उपवन-रूप यौवन को प्राप्त हुए। वे अन्य लोगों को अपनी अस्त्र-विद्या की कुशलता दिखाने लगे और न्यूनाधिक जानने की इच्छा से अन्यों के शस्त्र-कौशल देखने लगे। वे कलाभिज्ञ साहसी अश्वों को नचाने की क्रीड़ा में अश्वों को समुद्र के आवर्त्त की तरह खेल ही खेल में घुमा कर सीधा कर देते। देवताओं की शक्ति को भी उल्लङ्घन करने

वाले वे जो कि वृक्षपत्रों को भी स्व-कन्धों पर सहन नहीं करते थे, उन्मत्त हस्तियों को स्व-कन्धों पर उठाकर अपने वशीभूत कर लेते थे। मद में चिंघाड़ता हुआ हाथी जिस प्रकार विन्ध्य अटवी में क्रीड़ा करता है उसी प्रकार सकल शक्ति सम्पन्न वे समवयस्क अन्य बालकों के साथ उद्यानादि में स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीड़ा करते।

(श्लोक ४२-५०)

एक दिन बलवान् राजकुमारों ने राजसभा में बैठे चक्रवर्ती से प्रार्थना की—हे पिता, आपने पूर्व दिशा के अलङ्कारतुल्य मगधपति देव को, दक्षिण दिशा के तिलक रूप वरदामपति देव को, पश्चिम दिशा के मुकुट रूप प्रभासपति देव को, पृथ्वी के दोनों ओर स्थित बाहुओं तुल्य गङ्गा और सिन्धुदेवी को, भरत क्षेत्र रूपी कमल की कर्णिका तुल्य वैताढ्यकुमार देव को, और भरत क्षेत्र की मर्यादा भूमि स्तम्भ रूप हिमाचलकुमार देव को, खण्ड प्रपाता गुहा के अधिष्ठायक नाट्यमाल देव को, नैसर्प आदि नव-निधियों के अधिष्ठायक नौ हजार देवताओं को साधारण मनुष्य की तरह जय कर लिया है। हे तेजस्वी, आपने अन्तरंग शत्रुओं के षड्वर्ग की तरह इस छह खण्ड पृथ्वी को सहज ही परास्त कर दिया है। अब आपके भुजबल के योग्य ऐसा कोई कार्य शेष नहीं है जिसे पूर्ण कर हम कह सकें कि हम आपके पुत्र हैं। अब आपके द्वारा विजित पृथ्वी पर स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करके ही हम यह सार्थक कर सकें कि हम आपके पुत्र हैं, यही हमारी इच्छा है। हम चाहते हैं आपकी दया से गृहांगन की तरह समस्त पृथ्वी पर हस्ती की तरह स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करें। (श्लोक ५१-६०)

पुत्रों की यह प्रार्थना राजा सगर ने स्वीकृत की। महापुरुषों से की गई अन्य लोगों की प्रार्थना भी जब व्यर्थ नहीं होती तो फिर अपने पुत्रों द्वारा की गई प्रार्थना तो व्यर्थ होती ही कैसे ?

(श्लोक ६१)

अतः उन्होंने अपने पिता को प्रणाम कर स्व-निवास स्थान पर आकर प्रयाण की मङ्गल-सूचक दुन्दुभि निनादित की। उस प्रयाण के समय ही इतने उत्पात और अपशकुन होने लगे कि वीर पुरुष भी भयभीत हो जाएँ। वृहद् सर्पकुल से आकुल रसातल द्वार की तरह सूर्य-मण्डल हजार-हजार केतु नामक ताराओं से आच्छादित होने लगा। चन्द्र-मण्डल के मध्य छिद्र दिखाई देने लगा।

इससे वह नवीन उत्कीर्ण दांत के ताटंक की भाँति लगने लगा। वायु से लता जिस प्रकार कम्पित होती है उसी प्रकार पृथ्वी काँपने लगी। बड़े-बड़े शिला-खण्डों के जैसे ओले की वर्षा होने लगी। सूखे बद्दल के चूर्ण की तरह रजोवृष्टि होने लगी। क्रुद्ध शत्रु की तरह महा-भयङ्कर वायु प्रवाहित होने लगी। अकल्याणकारी शृगाल दाहिनी ओर खड़े होकर देखने लगे। उल्लू मानो उनकी स्पर्द्धा कर रहा हो—इस भाँति क्रोध से चिल्लाने लगे। मानो उच्च प्रकार के काल-चक्र से क्रीड़ा कर रहे हों इस प्रकार गिद्ध मण्डलाकार आकाश में उड़ने लगे। ग्रीष्म के दिनों में नदियाँ जिस प्रकार जलहीन हो जाती हैं उसी प्रकार सुगन्धित मदयुक्त हस्ती मदहीन हो गए। बिलों से जिस प्रकार भयंकर सर्प निकलते हैं उसी प्रकार हृेषारवकारी अश्वों के मुख से धुआँ निकलने लगा। इतने अपशकुन होने पर भी उन लोगों ने भ्रूक्षेप मात्र भी नहीं किया। कारण, उन उत्पातसूचक अपशकुनज्ञाता मनुष्यों के लिए भवितव्य ही प्रमाण है। अतः वे स्नान के पश्चात् प्रायश्चित, कौतुक-मंगलादि कर चक्रवर्ती की समस्त सेना सहित निकल पड़े। महाराज सगर ने स्त्रीरत्न के अतिरिक्त सभी रत्न पुत्रों के साथ दिए। कारण पुत्र भी स्व-आत्मा ही है। (श्लोक ६२-७४)

सगर के समस्त पुत्र ही निकल पड़े। उनमें कई उत्तम हस्ती पर बैठे थे। वे दिक्पाल से लग रहे थे। कई अश्व पर चढ़े सूर्य-पुत्र रेवन्त से प्रतिभासित हो रहे थे। कई सूर्यादि ग्रह की तरह रथ पर उपविष्ट थे। सभी ने मुकुट पहन रखा था। अतः वे इन्द्र से लग रहे थे। उनके वक्षों पर हार लटक रहे थे अतः वे नदी प्रवाहयुक्त पर्वत-से लग रहे थे। उनके हाथों में विविध प्रकार के आयुध थे इससे वे पृथ्वी पर आए आयुधधारी देवों-से लग रहे थे। उनके मस्तक पर छत्र थे। इससे वे वृक्ष-चिह्न युक्त व्यन्तर-से लग रहे थे। आत्म-रक्षकों द्वारा परिवृत्त वे तटभूमि द्वारा परिवृत्त समुद्र-से लग रहे थे। हाथ उठाकर चारण और भाट उनकी स्तुति कर रहे थे। अश्वगण तीक्ष्ण खुरों से पृथ्वी को खोद रहे थे। वाद्यों के शब्द से समस्त पृथ्वी बधिर की तरह हो गई थी। मार्ग में धूल के कारण दिक्समूह अन्ध की भाँति हो गए थे। (श्लोक ७५-८०)

विचित्र उद्यान में जैसे उद्यान-देव, पर्वत-शिखरों पर जैसे पर्वत-अधिष्ठायक देव, नदी तट पर जैसे नदी-पुत्र क्रीड़ा करते हैं

उसी प्रकार वे भी स्वेच्छा से क्रीड़ा करते हुए भरत-भूमि पर सर्वत्र विचरण करने लगे। ग्रामों में, खानों में, नगरों में, द्रोणमुखों में, यहाँ तक कि किसानों की कुटिया में भी वे विद्याधरों की तरह जिन-पूजा करते। अनेक प्रकार के भोग-उपभोग भोगते, खूब धन दान देते, मित्रों को प्रसन्न करते, शत्रुओं का नाश करते, पथों पर स्मारक रखने में कौशल बताते, उत्क्षिप्त अस्त्रों द्वारा निपुणता दिखाते, शस्त्र और शस्त्रधारियों की विचित्र और विनोदपूर्ण कथाएँ समवयस्क राजाओं को सुनाते। इस प्रकार वे अष्टापद पर्वत के निकट आए। उस पर्वत पर ऐसी औषधियाँ थीं जिन्हें देखने मात्र से क्षुधा, तृष्णा दूर हो जाती। जो कि पुण्य सम्पत्ति का स्थान रूप था। (श्लोक ८१-८७)

वह अष्टापद पर्वत वृहद् सरोवरों से देवताओं के अमृत-रस का भण्डार हो ऐसा प्रतीत हो रहा था। सघन और पीत रङ्ग के वृक्षों से सन्ध्या में श्याम वर्ण के मेघों से आवृत्त हो गया हो ऐसा लग रहा था। समीप के समुद्र से वृहद् पंखों वाला पोत-सा लग रहा था। झरने के प्रवाहित जल-प्रवाह से ऐसा लग रहा था मानो उन पर पताकाओं के चिह्न अङ्कित हों। उस पर विद्याधरों का विलास-गृह था इससे वह नवीन वैताढ्य पर्वत हो ऐसा लग रहा था। हर्षित मयूरों के मधुर स्वर से लग रहा था मानो वह गीत गा रहा हो। पर्वत-शिखर पर अनेक विद्याधारियों के रहने के कारण वह पुत्तलिका युक्त चैत्य-सा लग रहा था। चतुर्दिक विक्षिप्त रत्नों से वह रत्न निर्मित पृथ्वी के मुकुट-सा प्रतिभासित हो रहा था। वहाँ सदैव वन्दना के लिए आए चारण, श्रमणादि से वह नन्दीश्वर द्वीप-सा लग रहा था। (श्लोक ८८-९२)

कुमारों ने उस स्फटिक रत्नमय पर्वत को जहाँ सदैव उत्सव होते थे देखकर सुबुद्धि आदि अपने अमात्यों से पूछा—वैमानिक देवताओं के स्वर्ग के क्रीड़ा पर्वत-सा यह कौन पहाड़ है जो पृथ्वी पर उतर आया है? इस पर आकाश स्पर्शी हिमालय पर्वत स्थित शाश्वत चैत्यों की तरह जो वह चैत्य है उसका निर्माण किसने करवाया है? (श्लोक ९३-९५)

मन्त्री बोले—पहले ऋषभदेव भगवान् हुए थे। वे भारत के धर्म-तीर्थङ्कर आदि कर्त्ता और तुम्हारे पूर्वज थे। उनके पुत्र भरत १०० भाइयों में सबसे बड़े थे। उन्होंने इस छह खण्ड पृथ्वी को

जीता था अतः सभी उनकी आज्ञा को वहन करते थे। इन्द्र के लिए जैसे मेरुपर्वत है उसी प्रकार चक्री के लिए आश्चर्य का स्थानभूत यह अष्टापद पर्वत क्रीड़ा गिरि था। इस अष्टापद पर्वत पर ऋषभदेव भगवान् ने दस हजार साधुओं के साथ निर्वाण को प्राप्त किया था। ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् भरत राजा ने वहाँ रत्नमय पाषाणों का सिंहनिषद्या नामक चैत्य निर्माण करवाया। उसमें उन्होंने भगवान् ऋषभ और उनके परवर्ती २३ तीर्थङ्करों की निर्दोष रत्नों की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। प्रत्येक प्रतिमा स्व-स्व देहाकृति, संस्थान, वर्ण और चिह्नयुक्त है। उन्होंने उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा इसी चैत्य में चारण मुनियों द्वारा करवाई थीं। उन्होंने बाहुबलि आदि ९९ भाइयों की चरण-पादुका और मूर्तियाँ यहाँ स्थापित करवायीं। यहाँ भगवान् ऋषभ का समवसरण भी लगा था। उस समय उन्होंने भावी तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती वासुदेव, प्रति-वासुदेव और बलभद्रों का वर्णन किया था। इस पर्वत के चारों ओर भरत ने आठ-आठ सोपान निर्मित करवाए इसीलिए इसका नाम अष्टापद है। (श्लोक ९६-१०५)

यह सुनकर सभी कुमार आनन्दित हुए। यह पर्वत उनके पूर्व पुरुषों का है यह जान कर वे परिवार सहित उस पर चढ़े और सिंह-निषद्या चैत्य में गए। दूर से दर्शन होते ही उन्होंने आनन्दित मन से तीर्थङ्कर ऋषभ को प्रणाम किया। अजित स्वामी एवं अन्य तीर्थङ्करों को भी उन्होंने समान श्रद्धा से प्रणाम किया। कारण, वे गर्भ में आने से पहले ही श्रावक थे। मन्त्र द्वारा आकृष्ट कर लाए हों ऐसे तत्काल लाए शुद्ध गन्धोदक से कुमारों ने जिन-प्रतिमा को स्नान करवाया। कोई कलश को जलपूर्ण कर रहा था, कोई प्रभु पर जल डाल रहा था, कोई रिक्त कलश लिए जा रहा था। कोई धूपदानी में उत्तम धूप दे रहा था, कोई शङ्खादि वाद्य बजा रहा था। उस समय बड़े वेग से गिराए स्नान के गन्धोदक के कारण अष्टापद पर्वत द्विगुण झरना युक्त हो गया था। प्रक्षालन के पश्चात् उन लोगों ने देवदूष्य वस्त्र से जौहरी की तरह भगवान् की रत्न-प्रतिमाओं को पोंछा। तदुपरान्त उन भक्तिमानों ने दासी की तरह स्वेच्छा से प्रतिमा पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और विचित्र पुष्पमालाओं से, दिव्य वस्त्रों से, मनोहर रत्नालङ्कारों से प्रतिमा का पूजन किया एवं इन्द्र के रूप को भी विडम्बित

करने वाली स्वामी की प्रतिमा के सम्मुख पट्ट पर अक्षत से अष्ट-मङ्गल की रचना की। उन्होंने सूर्य मण्डल-से देदीप्यमान आरती थाल में कर्पूर रखकर पूजा के पश्चात् आरती की और करबद्ध होकर शक्रस्तव से वन्दना कर भगवान् ऋषभादि की इस प्रकार स्तुति की :

(श्लोक १०६-११९)

हे भगवन्, इस अपार और घोर संसार रूपी समुद्र में आप जहाज तुल्य हैं और मोक्ष के कारणभूत हैं। आप हमें पवित्र करें। स्यादवाद रूपी प्रासाद के निर्माण के लिए नय और प्रमाण के सत्राधारत्व धारणकारी हे प्रभो, हम आपको नमस्कार करते हैं। योजन पर्यन्त विस्तृत वाणी रूपी धारा से समस्त जगद्रूपी उद्यान को सुश्यामल करने वाले हे जिनेश्वर, हम आपको प्रणाम करते हैं। हम सामान्य जन भी आपके दर्शन से पञ्चम आरे के व्यक्ति की तरह परम फल को प्राप्त हुए हैं। गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और मुक्ति रूप आपके पञ्च-कल्याणकों के समय नारकी जीवों को भी सुखप्रदानकारी हे स्वामी, हम आपकी वन्दना करते हैं। मेघ, वायु, चन्द्र एवं सूर्य की तरह समदृष्टि सम्पन्न आप हमारे लिए कल्याण के कारण बनें। अष्टापद पर निवास करने वाले पक्षी भी धन्य हैं जो कि नित्य आपका दर्शन करते हैं। अनेक क्षणों तक हमने आपका दर्शन-पूजन किया इससे हमारा जीवन धन्य और कृतार्थ हो गया है।

(श्लोक १२०-१२६)

इस प्रकार स्तुति कर पुनः अर्हतों को नमस्कार कर सगर-पुत्र सानन्द मन्दिर से बाहर निकले। फिर उन्होंने भरत चक्रवर्ती के भ्राताओं के पवित्र स्तूपों की वन्दना की। राजा सगर के ज्येष्ठ पुत्र जह्नुकुमार ने अपने अनुजों से कहा—मुझे लगता है अष्टापद सा उत्तम अन्य कोई स्थान नहीं है। अतः इस चैत्य के अनुरूप एक और चैत्य का निर्माण करें। यद्यपि भरत चक्रवर्ती भरत क्षेत्र का परित्याग कर गए हैं फिर भी इस पर्वत पर जो भरत क्षेत्र का सारभूत चैत्य है उसके द्वारा वे आज भी अधिकारारूढ़ हैं। कुछ देर चुप रहने के पश्चात् वे फिर बोले–नवीन चैत्य निर्माण की अपेक्षा भविष्य में जिसके विलुप्त हो जाने की सम्भावना है उस चैत्य की यदि हम रक्षा करें तो लगेगा कि इस चैत्य को हमने बनवाया है। कारण, जब दुःखदकाल आएगा तब मनुष्य अर्थ-लोलुप, सत्त्वहीन और कृत्याकृत्य विचारहीन होगा। इसलिए

नवीन धर्म स्थान निर्माण करवाने की अपेक्षा पुराने धर्म स्थान की रक्षा ही अधिक उपयुक्त है। (श्लोक १२७-१३२)

यह सुनकर उनके सभी छोटे भाइयों ने चैत्य की रक्षा के लिए उसके चारों ओर परिखा खुदवाने की इच्छा से दण्डरत्न को उठाया। तदुपरान्त सूर्य से तेजस्वी जह्नु ने अपने भाइयों के साथ नगर के चारों ओर जैसी परिखा रहती है वैसी ही परिखा अष्टापद के चारों ओर खनन करने के लिए दण्डरत्न से पृथ्वी को खोदने लगे। उनकी आज्ञा से दण्डरत्न ने एक हजार योजन गहरी परिखा खोद दी। इससे वहाँ अवस्थित नागकुमार देवों के प्रासाद टूट कर गिरने लगे। अपने प्रासादों को गिरते देख समुद्र-मन्थन के समय जिस प्रकार जल-जन्तु क्षुब्ध हो उठे थे उसी प्रकार समस्त नागलोक क्षुब्ध हो उठा। मानो परचक्र आया हो, अग्नि प्रज्वलित हो गई हो, महाप्रभञ्जन प्रवाहित हो गया हो इस भाँति नागकुमार दुःखित होकर इधर-उधर दौड़ने लगे। अपने नागलोक को इस प्रकार आकुल देखकर नागकुमारों के राजा ज्वलनप्रभ क्रोध से अग्नि की भाँति प्रज्वलित हो उठे। पृथ्वी को खोदा गया है यह जानकर वे देखने के लिए नागलोक से बाहर आए और सगर चक्री के पुत्रों के पास गए। तरंगोत्थित समुद्र की तरह चढ़ी हुई भृकुटि से वे भयंकर लग रहे थे। ऊर्ध्वोत्थित ज्वालामुखी अग्नि की तरह क्रोध से उनके ओठ काँप रहे थे। उत्तप्त तोमर श्रेणी की तरह वे क्रुद्ध दृष्टि निक्षेप कर रहे थे। वज्राग्नि की धौंकनी की तरह अपनी नासिका को वे फुला रहे थे। यमराज की तरह क्रुद्ध और प्रलयकालीन सूर्य की तरह जिनकी ओर नहीं देखा जा सकता ऐसे नागपति सगरपुत्रों को बोले : (श्लोक १३३-१४४)

स्वयं को पराक्रमी जानने वाले तुम लोग अति दुर्मद हो। किला प्राप्त होने पर भील जो करते हैं उसी प्रकार दण्डरत्न को प्राप्त कर तुम लोगों ने यह क्या करना प्रारम्भ किया है? अविचार-पूर्वक कार्य करने वाले तुम लोगों ने भुवनपतियों के शाश्वत भवनों को हानि पहुँचाई है। भगवान् अजितनाथ के भाई के पुत्र होकर तुम लोगों ने पिशाच जैसा दारुण कर्म क्यों प्रारम्भ किया है?

(श्लोक १४५-१४७)

तब जह्नु बोले—हे नागराज, हमारे द्वारा आपके भवन भग्न हुए उससे पीड़ित होकर आपने जो कुछ कहा है वह उचित ही

है; किन्तु दण्डरत्नधारी हमने आपके भवनों को विनष्ट करने की इच्छा से पृथ्वी को नहीं खोदा है। हमने तो अष्टापद पर्वत की सुरक्षा के लिए चारों ओर परिखा के निर्माण के उद्देश्य से पृथ्वी खोदी है। हमारे वंश के पूर्वज भरत चक्रवर्ती ने रत्नमय चैत्य और समस्त तीर्थङ्करों की रत्नमय सुन्दर प्रतिमा निर्मित करवाई है। भविष्य में काल-दोष से लोग इसकी क्षति न करे इसलिए हमने यह कार्य किया है। आपके स्थान तो बहुत नीचे हैं अतः आपके भवनों के भग्न होने की तो हमने आशंका भी नहीं की थी। फिर भी ऐसा हुआ इसके लिए तो दण्डरत्न की अमोघ शक्ति ही अपराधी है। इसलिए अर्हतों की भक्ति के वशीभूत होकर हमने बिना विचारे जो कार्य किया है उसके लिए आप हमें क्षमा करें। अब आगे से हम ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे। (श्लोक १४८-१५४)

जह्नुकुमार के इस निवेदन पर नागराज शान्त हो गए। कहा भी गया है—'सत्पुरुषों की कोपाग्नि को शान्त करने में साम्य-वचन जल का काम करता है।' अतः इस विषय में अब अधिक कुछ न कहकर नागराज उसी प्रकार नागलोक में प्रवेश कर गए जिस प्रकार सिंह स्व-गुफा में प्रवेश करता है। (श्लोक १५५-१५६)

नागराज के जाने के पश्चात् जह्नुकुमार ने स्व-अनुजों से कहा—हमने अष्टापद के चारों ओर परिखा तो खुदवाई है; किन्तु पाताल-सी गहरी परिखा बिना जल के बुद्धिहीन मनुष्याकृति की तरह शोभा नहीं पाती। फिर यह परिखा कभी वापस मिट्टी से भी भर सकती है। कारण, कालान्तर में बड़े-बड़े खड्डे भी स्थल के समान हो जाते हैं। इसलिए इस परिखा को जल से भरना ही उचित होगा; किन्तु यह कार्य उच्च तरंगयुक्त गङ्गा के अलावा अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता। यह सुनकर उनके भाइयों ने कहा—आप जो कह रहे हैं वह उचित है तब जह्नु ने मानो द्वितीय यम ही हो इस प्रकार—दण्डरत्न हाथ में लिया। उस दण्डरत्न से गङ्गा का तट इस प्रकार तोड़ डाला जिस प्रकार इन्द्र वज्र से पर्वत-शिखर को विदीर्ण कर देता है। तट टूटते ही गङ्गा उसी पथ पर प्रवाहित होने लगी। कारण, सरल पुरुष की तरह जल को भी जिस दिशा में ले जाया जाए उधर ही प्रवाहित होने लगता है। उस समय उच्छलित तरंगों से गंगा ऐसी लग रही थी मानो वह पर्वत-शिखर को ऊपर उठा रही है और तट पर जल टकराने से

होने वाली ध्वनि ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो जोर-जोर से बाजा बजाया जा रहा है। इस भाँति स्व-जल के वेग से दण्ड द्वारा बनाए गए पृथ्वी के मार्ग को दुगुना विस्तृत करते हुए गंगा अष्टापद के चारों ओर बनाई परिखा के निकट आई और उसी प्रकार गिरने लगी जिस प्रकार समुद्र में गिरती है। पाताल के तुल्य भयंकर हजार योजन गहरी परिखा को उसने भरना प्रारम्भ किया। जह्नु ने अष्टापद की परिखा को भरने के लिए गंगा का आनयन किया था इसलिए गंगा का एक और नाम जाह्नवी पड़ा। जब परिखा जल से भर गई तब वह जल नागकुमार के आवासों पर धारायन्त्र की भाँति गिरने लगा। बिलों की तरह नागकुमारों के आवास जलपूर्ण हो गए। इससे प्रत्येक दिशा के नागकुमार व्याकुल हो उठे, फूत्कार करने लगे और दुःखी हो गए। नागलोक की व्याकुलता से नागराज ज्वलनप्रभ फिर क्रोधान्वित हुए। अंकुशाहत हस्ती की तरह उनकी आकृति भयंकर हो गई। वे बोले—सगर-पुत्र पिता के वैभव से दुर्मद हो गए हैं अतः ये क्षमा के अयोग्य हैं, गर्दभ की भाँति ये दण्डनीय हैं। हम लोगों के आवासों को नष्ट करने का उनका एक अपराध तो मैंने क्षमा कर दिया, उसके लिए कोई दण्ड नहीं दिया। फलतः उन्होंने पुनः अपराध किया। अब मैं इन्हें वही दण्ड दूंगा जो तस्करों को रक्षकगण देते हैं।(श्लोक १५७-१७२)

अत्यन्त क्रोध से गरजते हुए असमय में कालाग्नि के समान अत्यन्त दीप्ति से दारुण और बड़वानल जैसे समुद्र को सुखा डालने की इच्छा करता है उसी भाँति जगत् को सुखा देने की इच्छा से वे पृथ्वी से बाहर निकले और वज्रानल-से उच्च-ज्वाला सम्पन्न वे नागकुमारों सहित रसातल से बाहर आकर सगरपुत्रों के पास पहुंचे। फिर दृष्टिविष सर्पों के राजा ने क्रोधपूर्ण दृष्टि से सगरपुत्रों को देखा। इससे अग्नि में जिस प्रकार घास का पुलिन्दा जलकर राख हो जाता है उसी प्रकार सभी सगरपुत्र जलकर भस्म हो गए। उसी समय लोक में ऐसा हाहाकार मचा जिससे आकाश और पृथ्वी एकबारगी ही भर उठे। कारण, अपराधियों के दण्ड पाने पर भी लोगों के मन में दया उत्पन्न होती है। नागकुमार सगर राजा के साठ हजार पुत्रों को विनष्ट कर सन्ध्या को सूर्य जिस प्रकार अस्त होता है वैसे वे पुनः नागलोक में चले गए। (श्लोक १७३-१७८)

पञ्चम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

उस समय चक्री की सेना और योद्धाओं के मध्य उसी प्रकार कोलाहल मच गया जिस प्रकार जलाशय के खाली हो जाने पर उसके जल-जन्तुओं में मच जाता है। मानो किम्पाक फल खाया हो, विषपान किया हो या सर्प ने दंशन किया हो इस प्रकार कई मूच्छित होकर गिर पड़े, कई नारियल की भाँति स्व-मस्तक को जमीन पर पटकने लगे, कई मानो वक्ष देश ने अपराध किया हो इस भाँति वक्ष पर बार-बार आघात करने लगे, कई दासियों की भाँति किंकर्त्तव्यविमूढ़-से पैर पटकते हुए जमीन पर बैठ गए, कई बन्दरों की तरह कूदने के लिए पर्वत शिखर पर चढ़े, कई पेट चीरने के लिए यमराज की जिह्वा के समान छुरियाँ बाहर निकालने लगे, कई फाँसी पर चढ़ने के लिए, क्रीड़ा के समय जैसे झूले बाँधे जाते हैं उसी प्रकार उत्तरीय वस्त्र को वृक्षों की शाखाओं पर बाँधने लगे, कई खेत से बाहर जिस प्रकार अंकुर उखाड़ा जाता है उसी प्रकार सिर के केशों को नोचने लगे, कई स्वेद-बिन्दुओं की तरह शरीर के वस्त्रों को फेंकने लगे, कई पुरानी दीवार कहीं गिर न जाए उसके लिए स्तम्भ का जिस प्रकार सहारा दिया जाता है उसी प्रकार माथे पर हाथ रखकर चिन्ता करने लगे और कई अपने वस्त्रों को भी अच्छी तरह रखे बगैर पागलों की तरह शिथिलांग होकर जमीन पर लोटने लगे। (श्लोक १-९)

उस समय अन्तःपुरिकाएँ आकाश में जैसे तीतर विलाप करता है उसी प्रकार विभिन्न प्रकार से हृदय को मथ डालने वाला विलाप करने लगीं—हे देव, हमारे प्राणेश्वरों के प्राण लेकर और हमारे प्राणों को छोड़कर ऐसी अर्द्ध-दग्धता आपने क्यों की? हे पृथ्वी, तुम फट जाओ और हमें स्थान दो क्योंकि आकाश से गिरने वालों की तुम्हीं धारक हो। हे देव! चन्दन गोह की तरह आपने आज हम पर निर्दयतापूर्वक अकस्मात् वज्रपात किया है। हे प्राण, तुम्हारा पथ सरल हो जाए। अब तुम इच्छानुसार यहाँ से चले जाओ। इस देह को किराये की कुटिया की तरह खाली कर दो। सर्व दुःख दूर करने वाली हे महानिद्रा, तुम जाओ। हे गंगा! तुम उच्छ्वलित होकर हमें जल-मृत्यु दो। हे दावानल, तुम इस जंगल में आविर्भूत हो जाओ ताकि तुम्हारी सहायता से

हम भी पति की गति को प्राप्त करें। हे केशदाम, तुम इस समय पुष्पमाल्य की मित्रता परिहार करो। हे अक्षि, तुम अब काजल को तिलाञ्जलि दो। हे कपोल, तुम अब पत्रलेखा के सम्बन्ध का परित्याग करो। हे ओष्ठ, अब तुम आलता की संगति का त्याग करो। हे कर्ण, अब तुम संगीत सुनने की इच्छा और साथ-ही-साथ रत्न-कर्णिका का भी त्याग करो। हे कण्ठ, अब कण्ठियाँ पहनने की इच्छा मत रखो। हे स्तन, आज से कमल के लिए जैसे नीहार-कण ही हार होते हैं उसी प्रकार तुम भी अश्रुबिन्दुओं के हार धारण करो। हे हृदय, तुम तत्काल पके फूट की तरह दो खण्ड हो जाओ। हे बाहु, अब तुम बाजूबन्ध और कङ्कण भार से मुक्त हो जाओ। हे नितम्ब, प्रातःकाल का चन्द्र जैसे निज कान्ति का परित्याग करता है उसी प्रकार तुम भी कटिमेखला का त्याग कर दो। हे चरण, अनाथों की तरह तुम भी अब अलङ्कार धारण मत करो। हे शरीर, कौंचफली के स्पर्श की तरह अब तुम्हें अङ्गराग की आवश्यकता नहीं है। (श्लोक १०-२२)

अन्तःपुरिकाओं के इस प्रकार के करुण क्रन्दन से सारा वन प्रतिध्वनित होकर रोने लगा। (श्लोक २३)

सेनापति, सामन्त, राजा, मण्डलेश्वर इत्यादि सभी शोक, लज्जा, क्रोध और शङ्का से रोते हुए विचित्र प्रकार से बोलने लगे—हे स्वामीपुत्र, हम नहीं जानते आप सब कहाँ गए हैं? अतः आप हमें बताएँ ताकि स्वामी की आज्ञा में तत्पर हम भी आपके पीछे चले जाएँ। क्या आप सभी ने अन्तर्धान विद्या प्राप्त की है? यदि ऐसा ही है तो उसका प्रयोग करना ठीक नहीं। कारण, यह आपके सेवकों के लिए दुःख का कारण बना है। आप विनष्ट हो गए हैं; किन्तु आप लोगों के बिना हम ऋषि हत्याकारी-सा अपना मुख राजा सगर को कैसे दिखाएँ? यदि आप लोगों के बिना हम जाएँगे तो लोग हमारा उपहास करेंगे। हे हृदय, जल भरे कच्चे घड़े की तरह तुम अभी फूट जाओ। हे नागकुमार, तुम खड़े रहो, हमारे स्वामी तो अष्टापद की रक्षा में व्यग्र थे। कपट से कुत्ते की तरह उन्हें जलाकर अब तुम कहाँ जाओगे? हे तलवार, हे धनुष, हे शक्ति, हे गदा, तुम सब युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ। हे नागो, तुम भागकर कहाँ जाओगे? स्वामीपुत्र हमें यहाँ छोड़कर चले गए हैं। हा, हा, बिना उनके जाने से स्वामी भी हमें छोड़ देंगे। यदि

हम वहाँ न भी जाएँ यहीं रहें फिर भी तो यह सब सुनकर लज्जित होकर वे हमें दण्ड देंगे। (श्लोक २४-३२)

इस भाँति नाना प्रकार से विलाप करने के पश्चात् वे सभी एकत्र हुए और अपना स्वाभाविक धैर्य धारण कर इस प्रकार से सोचने लगे—जिस प्रकार प्रथम नियम की अपेक्षा बाद का नियम बलवान होता है उसी प्रकार कर्म सबसे बलवान है। इससे अधिक बलवान कोई नहीं है। जिसका प्रतीकार असम्भव है उसी कार्य के लिए प्रयत्न करने की इच्छा रखना व्यर्थ है। कारण, वह इच्छा आकाश को आघात पहुँचाने और हवा को पकड़ने की तरह ही है। अब विलाप करने से क्या होगा? अतः अब वापस लौट जाएँ और हस्ती, अश्व आदि समस्त सम्पत्ति बन्धक रखी हुई वस्तु की तरह महाराज को प्रत्यर्पण करें। (श्लोक ३३-३६)

ऐसा विचार कर वे लोग अन्तःपुरिकाओं को साथ लेकर दीन मुख से अयोध्या की ओर रवाना हुए। उनमें उत्साह नहीं था। मुख मलिन था। आँखों में ज्योति नहीं थी, मानो सोकर उठे हों वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे। वे धीरे-धीरे चलकर अयोध्या के निकट आए। सब एकत्र होकर नीचे बैठ गए। उनका मन इतना दुःखी था मानो किसी ने उन्हें बध-शिला पर बैठा दिया हो। वे परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—राजा ने हम लोगों को भक्त, बहुश्रुत, अनुभवी और बलवान समझकर सादर पुत्रों के साथ भेजा था। अब उन पुत्रों के बिना हम राजा के पास कैसे जाएँ? नासिकारहित पुरुष की तरह अपना यह मुख उन्हें कैसे दिखाएँ? अकस्मात् वज्रपात-सी उनके पुत्रों के मृत्यु की खबर उन्हें कैसे दें? इससे तो अच्छा है हम उनके पास जाएँ ही नहीं, हम लोगों के लिए तो सर्वदुःखशरण मृत्यु ही उचित है। स्वामी ने हमसे जो आशा की थी वह पूर्ण नहीं हुई है अतः व्यर्थ ही जीने से क्या लाभ है? हो सकता है पुत्रों का हृदय-द्रावक मृत्यु-संवाद सुनकर चक्री के प्राण निकल जाएँ। इससे तो यही अच्छा है कि उसके पूर्व ही हम हमारा प्राण-त्याग कर दें। ऐसा सोचकर वे मृत्यु का निर्णय ले रहे थे उसी समय गैरिक वस्त्रधारी एक ब्राह्मण वहाँ आए।

(श्लोक ३७-४७)

उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने कमल जैसे हाथ ऊँचे कर जीवन-दायिनी वाणी में आत्म-हत्या नहीं करनी चाहिए यह समझाते हुए

कहा–हे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ पुरुषो, आप अस्थिर चित्त क्यों हो रहे हैं? आपलोग तो उस खरगोश-सा व्यवहार करते हैं जो शिकारियों को आते देखकर ही जमीन पर गिर जाता है। आपके स्वामी के साठ हजार पुत्रों ने युगलियों की तरह मृत्यु वरण की है अब उसके लिए दुःख करने से क्या लाभ? एक साथ जन्मे हुए कभी-कभी पृथक समय में मरते हैं और कभी-कभी पृथक-पृथक स्थानों में जन्मे एक साथ एक ही समय में मरते हैं। एक साथ बहुत से भी मरते हैं, कम भी मरते हैं। कारण मृत्यु तो सबके साथ ही है। जिस प्रकार हजार यत्न करने पर भी प्राणी के स्वभाव को नहीं बदला जा सकता उसी प्रकार कितना ही प्रयत्न क्यों न करें मृत्यु को रोका नहीं जा सकता। यदि मृत्यु को रोका जा सकता तो इन्द्र और चक्रवर्ती ने उसके लिए प्रयत्न अवश्य किया होता। उन्होंने अपने स्व-परिजनों को मृत्यु के हाथों में न जाने दिया होता। आकाश से गिरे वज्र को हाथों में पकड़ा जा सकता है, उद्वेलित समुद्र को बाँध कर उसकी लहरों को रोका जा सकता है, महा भयंकर प्रलयकालीन अग्नि को जल से बुझाया जा सकता है, प्रलयकालीन उत्पात से तीव्र बने पवन को मन्दीभूत किया जा सकता है, पतनोन्मुख पर्वत को टिकाकर रखा जा सकता है; किन्तु मृत्यु को हजार प्रयत्न करने पर भी रोका नहीं जा सकता। अतः आप यह सब सोच-सोचकर दुःख मत करिए कि स्वामी द्वारा हमारे संरक्षण में दिए स्वामी-पुत्र इस संसार से चले गए। शोक में निमग्न आपके स्वामी के हाथों को मैं उपदेशप्रद वाक्यों से जकड़कर रखूँगा। (श्लोक ४८-५९)

इस प्रकार सबको धैर्य बँधाकर उस ब्राह्मण ने राह में पड़े किसी अनाथ की मृतदेह को उठाकर विनीता नगरी में प्रवेश किया और सगर चक्रवर्ती की राज्य सभा के प्रांगण में जाकर हाथ ऊँचाकर उच्च स्वर में बोलने लगा—हे न्यायकारी चक्रवर्ती, हे अखण्डभुज पराक्रमी राजा, आपके इस राज्य में अब्रह्मण्य रूप कर्म हो गया है, अत्याचार हो गया है। स्वर्ग में इन्द्र की तरह इस भरत क्षेत्र में आप ही रक्षक हैं। फिर भी मैं सर्वशान्त हुआ हूं।

(श्लोक ६०-६३)

ऐसे अभूतपूर्व वचनों को सुनकर सगर चक्रवर्ती को लगा कि उसका दुःख उनके मध्य प्रवेश कर गया है। उन्होंने द्वारपालक

से पूछा—यह कौन है ? किसने इसे सर्वशान्त किया है ? यह कहाँ से आया है ? सब कुछ ज्ञात कर मुझे बताओ और इसे यहीं ले आओ। द्वारपाल ने तुरन्त आकर उससे पूछा, किन्तु वह तो जैसे सुन ही नहीं पा रहा हो इस प्रकार चिल्लाता रहा। तब द्वारपाल ने कहा, ब्राह्मण, तुम दुःख से बधिर हो गए हो या बधिर ही हो ? ये भगवान अजितनाथ के भाई हैं और दीन-दुखियों के रक्षक एवं शरणार्थियों के शरण्य हैं। तुम्हारा क्रन्दन सुनकर उन्होंने स्वयं सहोदर की तरह आदर सहित पुछवाया है कि किसने तुम्हें सर्वशान्त किया है ? तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो ? ये सब बातें मुझे बताओ या स्वयं जाकर रोगी जिस प्रकार वैद्य को अपने रोग का कारण बताता है उसी प्रकार महाराज को अपने दुःख का कारण बताओ। (श्लोक ६४-७०)

द्वारपाल की बात सुनकर ब्राह्मण धीरे-धीरे सभागृह में आया। शिशिर पात से जिस प्रकार कमल मुद्रित हो जाता है उसी प्रकार उसकी आंखें मुद्रित थी। हेमन्त ऋतु की अर्द्ध रात्रि का चन्द्र जैसे मलिन हो जाता है उसी प्रकार उसका मुख मलिन था। उसके सुन्दर केश भालू के केशों की तरह बिखरे हुए थे : वृद्ध बन्दर की तरह उसके गालों में खड्डे हो गए थे। (श्लोक ७१-७३)

दयालु चक्रवर्ती ने ब्राह्मण से पूछा—क्या किसी ने तुम्हारा सुवर्ण छीन लिया है ? या तुम्हारे वस्त्रालंकार चोरी कर लिए हैं ? या किसी विश्वासघातक ने तुम्हारा बन्धक रखा द्रव्य देने से इन्कार कर दिया है ? या किसी ग्रामरक्षक ने तुम्हें उत्पीड़ित किया है ? या किसी शुल्क अधिकारी ने तुम्हारा समस्त द्रव्य छीनकर तुम्हें संकट में डाल दिया है ? या तुम्हारे भागीदार ने तुम्हारा भाग देना अस्वीकृत कर दिया है ? या किसी ने तुम्हारी स्त्री का अपहरण कर लिया है ? या किसी बलवान शत्रु ने तुम पर आक्रमण किया है ? या किसी भयंकर आधि-व्याधि ने तुम्हें पीड़ित कर रखा है ? या ब्राह्मण जाति सुलभ दारिद्र्य ने जन्म से ही तुम्हें पीड़ित कर रखा है ? हे ब्राह्मण, तुम्हें जो भी दुःख है मुझे बताओ। (श्लोक ७४-७९)

राजा की बात सुनकर ब्राह्मण नट की भाँति आँसू बहाते हुए करबद्ध होकर बोला—स्वर्ग में जैसे न्याय और पराक्रम से इन्द्र शोभा पाता है उसी प्रकार इस भरत क्षेत्र की यह छह खण्ड

पृथ्वी आपके द्वारा राजन्वती है। अतः कोई किसी का स्वर्ण-रत्न नहीं ले सकता। धनिक लोग तो ग्रामों की राह पर भी घर की तरह ही निश्चिन्त होकर सो जाते हैं। स्व-उत्तमकुल की तरह कोई किसी की बन्धक रखी सम्पत्ति का उच्छेद नहीं कर सकता। ग्रामरक्षक स्वसन्तान की तरह लोगों की रक्षा करते हैं। अधिक धन मिल जाने पर शुल्क अधिकारी अपराध के प्रमाण से ही दण्ड की तरह योग्य कर वसूल करते हैं। उत्तम सिद्धान्तों को ग्रहण करने वाले शिष्य जैसे पुनः गुरु से विवाद नहीं करते उसी प्रकार भागीदार भाग के लिए पुनः कभी झगड़ा नहीं करते। आपके राज्य में सभी न्याय सम्पन्न हैं अतः पर-पत्नी को वे बहन, माँ और पुत्र-वधू की तरह देखते हैं। जिस प्रकार यतियों के उपाश्रय में वैर-वाणी नहीं रहती है उसी भाँति आपके राज्य में भी वैर-वाणी नहीं है। जिस भाँति जल में ताप नहीं रहता उसी प्रकार आपकी सन्तुष्ट प्रजा में कोई आधि-व्याधि नहीं है। फिर आप तो साक्षात् कल्पवृक्ष हैं। अतः कोई दुःखी-दरिद्र नहीं है। यद्यपि संसार दुःखमय है; किन्तु मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं है; किन्तु हाँ, इस गरीब पर एक दुःख आ पड़ा है।

(श्लोक ८०-८९)

इस पृथ्वी पर स्वर्ग-सा अवन्ती नामक एक वृहद् देश है। वह निर्दोष देश उद्यान, नदी एवं जलाशयों से अति मनोहर है। उस देश में अश्वभद्र नामक एक ग्राम है। वह ग्राम बड़े-बड़े सरोवर, कूप, वापिका और विचित्र आवासों से सुन्दर एवं पृथ्वी का तिलक रूप है। मैं उसी ग्राम में रहने वाला वेदाध्ययन-निरत शुद्ध ब्रह्मकुलजात एक अग्निहोत्री ब्राह्मण हूँ। एक बार मैं अपने प्राण-प्यारे पुत्र को उसकी माँ के पास छोड़कर विशेष विद्यार्जन के लिए दूर देश गया। एक दिन पढ़ते हुए अकारण पढ़ने में मुझे स्वाभाविक अरुचि हो गयी। उस समय यह बड़ा अपशकुन हुआ है सोचकर मैं व्याकुल हो उठा। उस अपशकुन से भयभीत होकर जातिवन्त अश्व जिस प्रकार पूर्वाश्रित मन्दुरा में लौट जाता है उसी प्रकार मैं भी स्वग्राम को लौट गया। दूर से ही मैंने अपने घर को शोभाहीन देखा। सोचने लगा इसका क्या कारण है? उसी समय मेरी बाईं आँख फड़कने लगी। एक काक शुष्क वृक्ष की डाल पर बैठ कर कठोर स्वर में काँव-काँव करने लगा।

इस अपशकुन से मेरा हृदय तीरबद्ध-सा और अधिक व्यथित हो गया। मैं खिन्न हो गया। मैंने चुगलखोर की तरह घर में प्रवेश किया। मुझे आते देख मेरी पत्नी जिसके बाल अस्त-व्यस्त होकर बिखरे हुए थे, हा पुत्र! हा पुत्र! कहकर रोते-रोते धरती पर गिर पड़ी। उसकी वह दशा देखकर मैं समझ गया कि मेरा पुत्र मर गया है। मैं भी शोकावेग में प्राण रहित मनुष्य की तरह जमीन पर गिर पड़ा। जब मेरी चेतना लौटी तब करुण कण्ठ से विलाप करता हुआ घर के चारों ओर देखने लगा। तब मुझे मेरा मृत पुत्र दिखाई दिया। उसे साँप ने काट लिया था। मैं आहार-निद्रा सब कुछ भूलकर समस्त रात्रि उसी के पास शोकमग्न बैठा रहा। उसी समय मेरी कुलदेवी आकर बोली—वत्स, पुत्र-शोक में तुम इतने व्याकुल क्यों हो? यदि तुम मेरी बात मानो तो मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर सकती हूं। मैं करबद्ध होकर बोला—हे देवी, आप जो कहेंगी मैं वही करूँगा। कारण, पुत्र-शोक से दुःखी व्यक्ति क्या नहीं करता। (श्लोक ९०-१०४)

तब देवी बोली—जिसके घर आज तक कोई नहीं मरा उसके घर से शीघ्र जाकर मांगलिक अग्नि ले आओ। (श्लोक १०५)

तब से पुत्र को बचाने के लिए प्रत्येक घर में पूछता रहा हूं और सर्वत्र उपहासास्पद होकर भ्रान्त बना भटक रहा हूँ। जिस घर में भी जाकर पूछता हूँ उसी घर के लोग असंख्य लोगों की मृत्यु की बात सुनाते हैं। आज तक ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ कोई मरा नहीं हो। इससे आशाहीन होकर मृतक की भाँति नष्ट बुद्धि मैंने दीन-कण्ठ से देवी को जाकर सारी बात सुनाई। कुलदेवी ने कहा—यदि एक घर भी पूर्ण मंगलमय नहीं है तब तुम्हारा अमंगल मैं किस प्रकार दूर करूँ? (श्लोक १०६-१०९)

देवी का कथन सुनकर बाँस की लाठी की तरह मैं प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक नगर घूमते हुए यहाँ आया हूँ। हे राजन्, आप समस्त पृथ्वी के रक्षक हैं। बलवानों के नायक हैं। आप जैसा अन्य कोई नहीं। वैताढ्य पर्वत के दुर्ग स्थित दोनों श्रेणियों में रहने वाले विद्याधर भी आपकी आज्ञा को माला की तरह धारण करते हैं, देव भी सेवक की भाँति आपकी आज्ञा का पालन करते हैं। नव-निधि भी सदैव आपको ईप्सित वस्तु दान करती है। दीनों को आश्रय देना आपका सर्वदा का व्रत है। मैं आपकी शरण में आया

हूं। आप मुझे कहीं से भी मंगलाग्नि मँगवा दें। जिससे देवी मेरे पुत्र को जीवित कर दे। पुत्र-मृत्यु के कारण ही मैं अत्यन्त दुःखी हूं। (श्लोक ११०-११५)

राजा संसार के दुःखों को जानते थे फिर भी करुणावश ब्राह्मण के दुःख से दुःखित हुए। कुछ क्षण कुछ सोचकर बोले—इस पृथ्वी पर पर्वत श्रेष्ठ मेरु की तरह मेरा घर ही श्रेष्ठ है; किन्तु इस घर में भी मेरुपर्वत के दण्ड की तरह अपनी भुजाओं से इस पृथ्वी को छत्र-सा करने में सक्षम चौसठ इन्द्रों के मुकुट से जिसके चरण-कमलों की नख-पंक्तियाँ उद्भासित होती थीं वे ऋषभदेव स्वामी भी कालयोग से मृत्यु को प्राप्त हो गए। उनके ज्येष्ठ पुत्र राजा भरत जो चक्रवर्तियों में प्रथम थे, सुरासुर सानन्द जिनकी आज्ञा का पालन करते थे, जो सौधर्मेन्द्र के साथ अर्द्धासन पर बैठते थे, आयु शेष होने पर इस नर पर्याय को त्यागकर वे भी चले गए। उनके छोटे भाई बाहुबली जो भुज पराक्रम वालों में स्वयंभू-रमण समुद्र की तरह धुरीन कहलाते थे एवं दीक्षा ग्रहण के पश्चात् ध्यानमग्न होने पर भैंस, हाथी, अष्टापद आदि पशु जिनकी देह से अपनी देह रगड़ कर खुजलाते थे, जो अकम्पित वज्रदण्डी की तरह एक वर्ष प्रतिमा धारण किए हुए थे, वे भी आयु समाप्त होने पर एक क्षण भी जीवित नहीं रहे। भरत चक्रवर्ती के पराक्रमी पुत्र थे आदित्ययशा। उनका पराक्रम आदित्य से कम नहीं था। इनके पुत्र महायशा हुए जिनका यशोगान दिग्-दिगन्तों में उद्गीत होता और जो पराक्रमियों के शिरोमणि थे। इनके पुत्र हुए अतिबल। इन्द्र की भाँति अखण्ड पृथ्वी पर इनका शासन था। इनके पुत्र थे बलभद्र। इन्होंने अपने बल से सारे जगत् को वशीभूत कर लिया था जो कि तेज में सूर्य के समान थे। इनके पुत्र हुए बलवीर्य। वे महापराक्रमी थे। शौर्य और धैर्यधारियों में मुख्य और राजाओं में अग्रणी थे। इनके पुत्र हुए कीर्त्तिवीर्य। ये भी कीर्त्ति और वीर्य के लिए प्रख्यात थे। एक दीप से जिस प्रकार अन्य दीप प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार वे उज्ज्वलकारी थे। इनके पुत्र जलवीर्य हुए जो हाथियों में गंधहस्ती की तरह और आयुधों में वज्रदण्ड की तरह मुख्य थे और जिनका पराक्रम कोई रोक नहीं सकता था। इनके पुत्र दण्डवीर्य हुए। वे तो मानो द्वितीय यमराज ही हों ऐसी अखण्ड शक्ति सम्पन्न और उद्दण्ड भुजदण्ड युक्त थे। वे

सभी दक्षिण भरतार्द्ध के स्वामी, महापराक्रमी और इन्द्र प्रदत्त भगवान् के मुकुट को धारण करने वाले थे। इस प्रकार वे लोकोत्तर पराक्रम में देव और दानवों को जय करने में समर्थ थे। वे सभी दैवयोग से इसी वंश में जन्मे थे फिर भी सब मृत्यु को प्राप्त हुए। इनके पश्चात् भी असंख्य महापराक्रमी राजा हुए थे। वे सभी मृत्यु को प्राप्त हुए थे। कारण, काल निश्चय ही दुरतिक्रम्य है।

(श्लोक ११६-१३६)

ब्राह्मण, मृत्यु पीछे से अपयश-कारी की तरह सबको अनिष्टकारी, अग्नि की तरह सबको दग्धकारी, जल की तरह सबको भेदनकारी है। मेरे घर में भी मेरे कोई भी पूर्व पुरुष मृत्यु से नहीं बच सके तब मैं अन्य की तो बात ही क्या कहूं। अतः देवी ने जैसा कहा है वैसा मंगलघर आपको कहाँ मिलेगा? जो मृत्यु सभी के लिए सामान्य है उसके लिए आप क्यों शोक करते हैं? बालक हो या वृद्ध, दरिद्र हो या चक्रवर्ती मृत्यु सभी के लिए एक-सी है। संसार का यही स्वभाव है कि इसमें जल-तरंगों की भाँति एवं शरदकाल के मेघ की भाँति कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इसके अतिरिक्त इस संसार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्रवधू आदि जो सम्बन्ध हैं वे पारमार्थिक नहीं हैं, ग्राम की धर्मशाला में जिस प्रकार पथिक भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर मिलते हैं उसी प्रकार कोई कहीं से तो कोई कहीं से आकर संसार के एक घर में एकत्र होते हैं। फिर वे सभी अपने-अपने कर्मों के परिणामानुसार भिन्न-भिन्न दिशाओं में चले जाते हैं। अतः कोई भी सुबुद्धिवान मनुष्य इसके लिए शोक नहीं करते। हे द्विजोत्तम, इसलिए आप मोह के चिह्न रूप जो शोक है उसका परित्याग कर धैर्य धारण करें। हे महासत्त्व, अपने हृदय में विवेक को जाग्रत करें।

(श्लोक १३७-१४५)

ब्राह्मण बोला—हे राजन्, मैं संसार के प्राणीमात्र के स्वभाव को भलीभाँति जानता हूं, किन्तु पुत्र-शोक में आज वह सब भूल गया हूं। कारण जब तक मनुष्य को इष्ट-वियोग का अनुभव नहीं होता तभी तक सब कुछ जानते हैं और धैर्य रखते हैं। हे स्वामी, सर्वदा अर्हतों के आदेश का अमृतपान कर जिनका चित्त निर्मल हो गया है ऐसे आप जैसे धैर्यधारी और विवेकी पुरुष तो कम ही होते हैं। हे विवेकी, मुझ मोहग्रस्त को आपने जो उपदेश

दिया वह उत्तम है; किन्तु यहाँ विवेक अब आपको स्व-आत्मा के लिए धारण करना उचित है। कष्ट उपस्थित होने पर मोहादि द्वारा आच्छन्न आत्मा रक्षणीय है। इसीलिए अस्त्र धारण किया जाता है ताकि संकट के समय वह काम आए। उसका व्यवहार सब समय नहीं होता। यह काल तो दरिद्र और चक्रवर्ती सभी के लिए समान है। यह किसी के भी प्राणों को या पुत्र को हरण करने में भयभीत नहीं होता। जिनके कम सन्तान होती है उनकी कम सन्तान मरती हैं। जिनके अधिक सन्तान होती है उनकी अधिक सन्तान मरती है; किन्तु वेदना तो सभी को उसी प्रकार समान ही होती है जिस प्रकार चींटी या हाथी को कम या अधिक प्रहार से होती है। जिस प्रकार मैं अपने एक पुत्र के लिए शोक नहीं करूँ उसी प्रकार आप भी अपने सभी पुत्रों की मृत्यु के लिए शोक नहीं करें। राजन्, भुज पराक्रम से सुशोभित आपके साठ हजार पुत्र काल योग से एक साथ मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं।

(श्लोक १४६-१५५)

उसी समय राजकुमारों के साथ गए सामन्त, अमात्य, सेनापति और कुमारों की सेवा करने वाले सभी सेवक जो कि समीप ही खड़े थे उत्तरीय से अपना मुँह ढके लज्जा से मस्तक नीचा किए दावानल में जले वृक्ष की तरह दुःख-विवर्ण शरीर, पिशाच और किन्नर की तरह अत्यन्त शून्य मन एवं लुण्ठित कृपण की तरह दीन और अश्रु प्रवाहित करते हुए मानो सर्प ने दर्शन किया है इस प्रकार लड़खड़ाते हुए मानो संकेत कर बुलाया हो इस प्रकार सब एक साथ सभा में आकर सिर नीचा किए अपने-अपने योग्य आसनों पर बैठ गए। (श्लोक १५६-१६०)

ब्राह्मण के उन वचनों को सुनकर एवं महावतहीन हस्तियों की तरह लोगों को आते देखकर चक्रवर्ती के नेत्र इस प्रकार स्थिर हो गए मानो वे चित्रलिखित हों या निद्राविष्ट हों या स्तम्भित एवं शून्य हों। अधैर्यवश राजा मूच्छित हो गए। जब उनकी मूर्च्छा टूटी तो ब्राह्मण ने उन्हें बोध देने के लिए पुनः कहा—राजन्, विश्व के मोह की निद्रा नष्ट करने के लिए सूर्य की भाँति ऋषभदेव के आप वंशज हैं, भगवान् अजितनाथ के भाई हैं। फिर भी आप सामान्य मनुष्य की तरह मोहाविष्ट होकर इन दोनों महात्माओं को क्यों कलङ्कित कर रहे हैं? (श्लोक १६२-१६५)

राजा ने सोचा—यह ब्राह्मण अपने पुत्र की मृत्यु के बहाने मेरे पुत्रों की मृत्यु के नाटक की प्रस्तावना सुना रहा था। यह स्पष्टतः मेरे पुत्रों की मृत्यु की बात ही कह रहा है। क्योंकि मेरे प्रधान पुरुष भी कुमारों के बिना यहाँ अकेले ही आए हैं; किन्तु वन में विचरण करने वाले केशरी सिंह की तरह पृथ्वी पर इच्छापूर्वक भ्रमण करने वाले मेरे कुमारों का विनाश कैसे सम्भव है? जिनके साथ महारत्न थे, जो स्वयं पराक्रम में अजेय थे ऐसे अस्खलित शक्ति सम्पन्न कुमारों को कौन मार सकता है? (श्लोक १६६-१६९)

तब उन्होंने अमात्यों से कहा—सत्य क्या है बताओ?

प्रत्युत्तर में अमात्यों ने नागकुमारों के इन्द्र-ज्वलनप्रभ का सारा वृत्तान्त सुना दिया। यह सुनते ही वज्र-प्रताड़ित से पृथ्वी को कम्पित करते हुए वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कुमारों की माताएँ भी मूर्च्छित हो गयीं। क्योंकि पुत्र-वियोग का दुःख माता-पिता दोनों को ही समान होता है। (श्लोक १७०-१७२)

समुद्र के निकटस्थ गर्त्त में गिरे जल-जन्तुओं की भाँति अन्य लोगों की क्रन्दन ध्वनि से राज-महल भर उठा। मन्त्रीगण भी राजकुमारों की मृत्यु के साक्षी रूप बने आत्म-निन्दा करते हुए करुण-स्वर से क्रन्दन करने लगे। स्वामी के दुःख को देखने में असमर्थ हैं इस प्रकार छड़ीदार भी हाथों से मुख को ढँककर उच्च स्वर से रोने लगे। देह-रक्षकगण अपने प्राण-प्रिय अस्त्रों का परित्याग कर—वायुभग्न वृक्ष की तरह जमीन पर गिरकर विलाप करते हुए लोट-पोट होने लगे। दावानल में गिरे तित्तर पक्षी की तरह कंचुकी स्व-कंचुको को फाड़-फाड़कर रोने लगा और चिरकाल के पश्चात् आगत शत्रु की तरह वक्षों पर आघात करते 'हाय, हम मर गए' बोलते हुए दासी-दास क्रोध करने लगे। (श्लोक १७३-१७८)

पंखा बीजने एवं जल के छींटे देने से राजा और रानियों के दुःख शल्य को अपहरण करने वाली संज्ञा लौटने लगी। जिनके वस्त्र आँसुओं के साथ प्रवाहित काजल से मलिन हो गए थे, जिनके गाल और आँखें केशों के बिखर जाने से आच्छादित हो रहे थे, जिनके गले में पड़ी मुक्ता-मालाएँ वक्ष पर कराघात करने के कारण बिखर-बिखर जा रही थीं, जमीन पर लोटने के कारण जिनके कङ्कणों के मुक्ता टूटे जा रहे थे, वे इतना दीर्घ निःश्वास फेंक रही थी मानो शोकाग्नि का धुआँ बाहर हो रहा था—उनके कण्ठ और

अधर शुष्क हो गए थे—इस प्रकार रानियां खूब रुदन कर रही थीं।

(श्लोक १७९-१८२)

चक्रवर्ती सगर भी उस समय धैर्य, लज्जा और विवेक का परित्याग कर रानियों की तरह ही शोक से व्याकुल होकर इस प्रकार विलाप करने लगे—हे कुमारो, तुम लोग कहां हो? अब भ्रमण करना बन्द करो। अब तुम लोगों के राज्य-ग्रहण और व्रत-ग्रहण करने का समय हो गया है। इस ब्राह्मण ने सत्य ही कहा है। और कोई मुझे नहीं कहता कि चोर की तरह कपटी भाग्य द्वारा तुम लुट गए हो। हे देव, तुम कहां हो? हे अधम नागराज ज्वलनप्रभ! तुम कहां हो? क्षत्रियों के लिए अयोग्य आचरण करके अब तुम कहां जाओगे? हे सेनापति, तुम्हारे भुजदण्डों की प्रचण्डता कहां गई? हे पुरोहितरत्न, तुम्हारा क्षेमकरण कहां गया? हे वर्द्धकीरत्न, तुम्हारा, दुर्ग रचना कौशल क्या गल गया था? हे गृहीरत्न, तुम अपनी संजीवनी औषधि क्या कहीं भूल गए थे? हे गजरत्न, क्या उस समय तुम्हें गजनिमीलिका हुई थी? हे अश्व-रत्न क्या उस समय तुम्हें शूल ने पीड़ित कर रखा था? हे चक्र, हे दण्ड, हे खड्ग, तुम क्या उस समय कहीं छिप गए थे? हे मणि और कांकणीरत्न, तुम लोग भी क्या उस समय दिवस के चन्द्र की तरह तेजोहीन हो गए थे? हे छत्ररत्न, हे चर्मरत्न, तुम लोग क्या वाद्ययन्त्रों के चमड़े की तरह फट गए थे? हे नवनिधि, क्या तुम्हें पृथ्वी ने ग्रस लिया था? मैंने तुम लोगों के भरोसे निःशङ्क होकर कुमारों को भेज दिया था। क्रीड़ारत राजकुमारों की उस अधम नाग से रक्षा क्यों नहीं की? अब सर्वनाश हो जाने के बाद मैं क्या कर सकता हूं? मैं वंशसहित ज्वलनप्रभ का विनाश कर सकता हूँ; किन्तु क्या उससे कुमार पुनः जीवित हो सकेंगे? भगवान ऋषभ के वंश में आजतक कोई भी इस प्रकार नहीं मरा है। पुत्र, तुमलोग ऐसी लज्जाजनक मृत्यु को कैसे प्राप्त हुए?

(श्लोक १८३-१९४)

मेरे समस्त पूर्व पुरुष आयु पूर्ण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त करने वाले हुए थे। उन्होंने अन्त में दीक्षा ग्रहण करके स्वर्ग या मोक्ष पाया है। हे पुत्रगण, जिस प्रकार अरण्य में उद्गत वृक्ष का दोहद पूर्ण नहीं होता उसी प्रकार तुम लोगों के स्वेच्छा विहार का दोहद पूर्ण नहीं हुआ। ऐसा लगता है उदित हुए पूर्णचन्द्र को

राहु ने ग्रस लिया, पुष्पित वृक्षों को हस्ती ने धराशायी कर दिया, तट पर आए जहाज को पहाड़ ने चूर-चूर कर दिया, आकाश में समवेत मेघ को वायु ने छिन्न-भिन्न कर दिया, पके हुए धान्य क्षेत्र दावानल में भस्म हो गया। हाय, धर्म, अर्थ और काम के योग्य तुम विनष्ट हो गए। हे पुत्रो, कृपण धनाढ्य के घर आगत याचक की भाँति तुमलोग मेरे घर आकर अकृतार्थ अवस्था में ही यहाँ से चले गए। यह कितने दुःख की बात है। उद्यानहीन चन्द्रिका जिस प्रकार व्यर्थ होती है उसी प्रकार तुम लोगों के बिना चक्रादिरत्न और नवनिधि मेरे किस काम के? प्राण-प्रिय पुत्रों के बिना यह छह खण्ड का भरत क्षेत्र का राज्य मेरे लिए व्यर्थ है। (श्लोक १९५-२०२)

इस भाँति विलाप करते हुए सगर चक्री को समझाने के लिए वही ब्राह्मण श्रावक अमृत-सी मधुर वाणी में पुनः बोला—हे राजन्, आपके वंश में पृथ्वी की रक्षा की तरह ज्ञान भी अधिकार में पाया है। अतः आपको अन्य कोई बोध दे यह सम्भव नहीं है। जगत की मोह निद्रा को दूर करने वाले अजितनाथ स्वामी जिनके भाई हैं उसे कोई दूसरा उपदेश दे यह कदापि सम्भव नहीं है। जब कि दूसरे भी यह बात जानते हैं कि संसार असार है तब आपको तो यह ज्ञात ही होगा। कारण आप तो जन्म से ही सर्वज्ञ के सेवक हैं। हे राजन्, पिता-माता, स्त्री, पुत्र और मित्र सभी इस संसार में स्वप्नवत् हैं। जो सुबह था वह मध्याह्न में नहीं रहा और जो मध्याह्न में था वह रात्रि में नहीं इस प्रकार इस संसार में सभी पदार्थ अनित्य हैं। आप तो स्वयं ही तत्त्ववेत्ता हैं अतः धैर्य धारण करिए क्योंकि सूर्य विश्व को प्रकाशित करता है; किन्तु सूर्य को कौन प्रकाशित करेगा? (श्लोक २०३-२०९)

लवण समुद्र जिस प्रकार लवण और मणियों से व्याप्त है, पक्ष की मध्य रात जैसे अन्धकार और प्रकाश से व्याप्त है, हिमालय जिस प्रकार दिव्य औषधि और हिम से व्याप्त है उसी भाँति उस ब्राह्मण के उपदेश और पुत्रों की मृत्यु सुनकर सगर राजा उपदेश और मोह से व्याप्त हो गए। सगर चक्री के हृदय में जैसा स्वाभाविक महान् धैर्य था उसी प्रकार पुत्रों की मृत्यु का संवाद सुनकर मोह उत्पन्न हो गया। एक म्यान में दो तलवारों की तरह, एक स्तम्भ में दो हस्तियों की तरह राजा के मन में बोध और

मोह एक साथ उत्पन्न हुए। तब राजा को समझाने के लिए सुबुद्धि नामक मुख्य ग्रमात्य ग्रमृतमय वाणी में इस प्रकार बोले, समुद्र ग्रपनी मर्यादा का परित्याग कर सकता है, पर्वत कम्पित हो सकता है, पृथ्वी चंचल हो सकती है, वज्र जर्जर हो सकता है; किन्तु ग्राप जैसे महात्मा महान् दुःख ग्रा पड़ने पर भी भयभीत नहीं होते। इस संसार में कुटुम्ब ग्रभी है, ग्रभी नहीं। एतदर्थ विवेकी पुरुष इनसे मोह नहीं रखते। इस विषय में एक कथा कहता हूं, ध्यान से सुनिए— (श्लोक २१०-२१९)

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के किसी नगर में एक राजा थे। वे जैन धर्म रूपी सरोवर में हंस की तरह थे। वे सदाचार रूपी पथ के पथिक थे। प्रजा रूपी मयूर के लिए मेघ के समान थे। मर्यादा पालन में सागर-तुल्य थे। समस्त व्यसन रूपी तृणों के लिए ग्रग्नि-रूप थे। दयारूप बलदों के लिए ग्राश्रयरूप वृक्ष थे। कीर्तिरूप नदी के उद्गम के लिए पर्वत तुल्य एवं शील रूपी रत्नों के लिए रोहणाचल पर्वत थे। एकदिन वे सुखपूर्वक ग्रपनी राजसभा में बैठे थे। तभी छड़ीदार ने ग्राकर कहा—एक ग्रादमी ग्रापसे मिलने ग्राया है। उसके हाथ में फूलों की माला है। वह शिल्पी-सा लगता है। वह कुछ निवेदन करने के लिए ग्रापसे मिलना चाहता है। वह पण्डित है या कवि, गन्धर्व है या नट, नीतिवेत्ता है या ग्रस्त्रविद् या ऐन्द्रजालिक यह नहीं जानता, किन्तु ग्राकृति से गुणवान लगता है। कहा भी गया है—जहां ग्राकृति सुन्दर है वहां गुण भी होते हैं। (श्लोक २२०-२२६)

राजा ने ग्रादेश दिया—उसे शीघ्र यहां ले ग्राग्रो, ताकि वह ग्रपने मन की बात कह सके। (श्लोक २२७)

राजा की ग्राज्ञा से छड़ीदार उसे राजसभा में ले ग्राया। बुध जिस प्रकार सूर्यमण्डल में प्रवेश करता है उसी भांति उसने राजसभा में प्रवेश किया। रिक्त हस्त से राजा के दर्शन नहीं करना चाहिए, माली की तरह राजा को एक पुष्पमाल भेंट दी। तदुपरान्त छड़ीदार के बताए हुए ग्रासन पर करबद्ध होकर बैठ गया। (श्लोक २२८-२३०)

तब राजा ने नेत्र विस्फारित एवं हास्य से ग्रोष्ठ प्रसारित करते हुए पूछा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में तुम किस वर्ण के हो? ग्राम्बष्ठ ग्रौर मगधादि देशों में तुम किस देश

के हो ? श्रोत्रीय, पौराणिक स्मार्त हो या ज्योतिषी ? तीन विद्याओं के ज्ञाता हो ? धनुकाचार्य हो ? ढाल-तलवार के व्यवहार में पटु हो ? बर्छी का प्रयोग कर सकते हो ? तुम क्या शल्य जातीय अस्त्रों में कुशल हो ? क्या गदा युद्ध जानते हो ? क्या तुम दण्ड युद्ध के पण्डित हो ? क्या तुम शक्ति चलाने में सशक्त हो ? क्या मूसल शास्त्र में दक्ष हो ? हल शास्त्र में क्या तुम अधिक चतुर हो ? चक्र चलाने में क्या तुम पराक्रमी हो ? छुरिका युद्ध में क्या तुम निपुण हो ? क्या अश्व-विद्या के ज्ञाता हो ? क्या हस्ती को शिक्षा देने में समर्थ हो ? क्या तुम व्यूह-रचना के ज्ञाता आचार्य हो ? क्या व्यूह रचना को तोड़ने में भी कुशल हो ? रथादि की रचना जानते हो ? क्या रथ चला सकते हो ? क्या सोना, रूपा आदि धातुओं को गढ़ना जानते हो ? चैत्य, प्रासाद, अट्टालिका आदि के निर्माण में क्या तुम निपुण हो ? क्या विचित्र यन्त्र और दुर्गादि के निर्माण में चतुर हो ? किसी सांयात्रिक के क्या तुम कुमार हो ? या किसी सार्थवाह के पुत्र ? स्वर्णकार हो या मणिकार हो ? बीणावादन में प्रवीण हो या वेणु बजाने में ? ढोल बजाने में चतुर हो या तबला बजाने में ? वाणी के क्या तुम अभिनेता हो ? गायन शिक्षक हो ? सूत्रधार हो ? नट के नायक हो या भाट हो या नृत्याचार्य हो ? सशप्तक हो या चारण ? समस्त लिपियों के ज्ञाता हो या चित्रकार ? मिट्टी का काम जानते हो ? या अन्य किसी प्रकार के कारीगर हो ? नदी, ह्रद, समुद्र अतिक्रम करने का क्या कभी प्रयास किया है ? या माया, इन्द्रजाल एवं अन्य किसी कपट प्रयोग में तुम चतुर हो ? (श्लोक २३१-२४५)

इस प्रकार आदरपूर्वक जब राजा ने उससे पूछा तो उसने नमस्कार कर राजा से कहा—राजन्, जैसे जल का आधार समुद्र है, तेज का आधार सूर्य है उसी प्रकार समस्त पात्रों के आधार आप हैं। मैं वेद शास्त्र-ज्ञाताओं का सहाध्यायी हूं. धनुर्वेदादिज्ञाता, आचार्य या उससे भी अधिक हूं। समस्त कारीगरों में मैं प्रत्यक्ष विश्वकर्मा हूं, गीतादि कलाओं में मानो पुरुष रूप में साक्षात् सरस्वती हूं। रत्नादि के व्यवहार में मैं जौहरियों के लिए पितृतुल्य हूं। वाचालता में चारण-भाटों का मैं उपाध्याय जैसा हूं। नदी आदि को पार करने में मैं दक्ष हूं; किन्तु इस समय इन्द्रजाल विद्या

का प्रयोग करने के लिए मैं आपके पास आया हूं। मैं मुहूर्त्त मात्र में उद्यान की रचना कर सकता हूं। उसमें वसन्तादि ऋतुओं का प्रवर्तन और परिवर्तन करने में भी समर्थ हूं। आकाश में गन्धर्व नगर के संगीत को प्रकट कर सकता हूं। क्षण भर में अदृश्य, दृश्य और अन्तर्धान हो सकता हूं। मैं कटहल की तरह खैर के अङ्गारों को खा सकता हूं। तप्त लोह के तोमर को सुपारी की तरह चबा सकता हूं। मैं जलचर, स्थलचर व खेचर के रूप एक प्रकार से या अनेक प्रकार से दूसरों की इच्छानुसार धारण कर सकता हूं। मैं दूर से इच्छित पदार्थ ला सकता हूं, पदार्थों का रङ्ग उसी क्षण परिवर्तित कर सकता हूं और आश्चर्यजनक अनेक कार्यों का कौशल मेरे अधिगत है। अतः हे राजन्, मेरी कला विद्या देखकर उसे सफल कीजिए। (श्लोक २४६-२५७)

इस प्रकार गर्जना कर स्थिर हुए मेघ की भांति उसके प्रतिज्ञा कर चुप होने पर राजा ने उससे कहा—हे कलाविद् पुरुष, जैसे कोई चुहिया पकड़ने के लिए पर्वत खोदता है, मछली पकड़ने के लिए सरोवर को शुष्क करता है, काष्ठ के लिए आम्रवन विनष्ट करता है, एक मुष्ठि चने के लिए चन्द्रकान्ता मणि भस्म करता है, घाव पर पट्टी बांधने के लिए देवदूष्य वस्त्र फाड़ता है, कीलक के लिए देवालय तोड़ता है उसी भांति स्फटिक के समान शुष्क परमार्थ प्राप्त करने की योग्यता सम्पन्न तुम अपविद्या प्राप्त करने में आत्मा को मलिन करते हो। सन्निपाती रोगी की तरह तुम्हारी इन अपविद्याओं को देखने वाले की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। तुम याचक हो अर्थात् इच्छानुसार धन मांगो। हमारे कुल में किसी की भी उचित आशाएं तोड़ी नहीं जाती। (श्लोक २५८-२६४)

राजा के इस कठोर वचन को सुनकर वह अभिमानी व्यक्ति अपने क्रोध को छिपाते हुए बोल पड़ा—क्या मैं अन्धा हूं? बधिर हूं? हाथ-पांव विहीन या नपुंसक हूं? या अन्य किसी प्रकार से दया का पात्र हूं जो अपने गुणों का परिचय दिए बिना, चमत्कार दिखाए बिना आपको कल्पवृक्ष मानकर दान ग्रहण करूं? आपको मेरा नमस्कार है। मैं यहां से अन्यत्र जा रहा हूं। ऐसा कहकर वह खड़ा हो गया। मुझ पर कृपणता का दोष आएगा इस भय से राजा ने ठहरने को कहा; किन्तु वह ठहरा नहीं, सभागृह से बाहर हो गया। सेवकों ने यह कहकर राजा की लज्जा दूर की—आप तो

उसे दान दे ही रहे थे; किन्तु उसने क्रोधावेश में इसे ग्रहण नहीं किया। इसमें आपका क्या दोष है ? (श्लोक २६५-२७०)

इस बार वह ब्राह्मण के वेश में हाथों में उपहार लिए राज-द्वार पर आया। द्वारपाल ने उसके आने की खबर राजा को दी। द्वार पर आगत व्यक्ति की खबर देना तो द्वारपाल का कर्त्तव्य ही है। राजाज्ञा से सत्कार संबन्धित कार्य के अधिकारी सहित छड़ीदार उसे दरबार में ले आया। उसने राजा के सम्मुख खड़े रहकर हाथ ऊँचा कर आशीर्वादात्मक आर्यवेदों के मन्त्र पदक्रम से बोले। तदुपरान्त छड़ीदार द्वारा बताए आसन पर जा बैठा। राजा की कृपापूर्ण दृष्टि उसे देखने लगी। राजा ने पूछा—तुम कौन हो और यहाँ क्यों आए हो ? (श्लोक २७१-२७६)

तब वह ब्राह्मणश्रेष्ठ बोला—हे राजन्, मैंने नैमित्तिक विद्या के साक्षात् अवतार हों ऐसे गुरु की उपासना कर यह विद्या प्राप्त की है। आठ अधिकरणी ग्रन्थ, फलादेश ग्रन्थ, जातक और गणितक ग्रन्थ मुझे अपने नाम की तरह कण्ठस्थ हैं। हे राजा, मैं तपः सिद्ध मुनि की तरह भूत, भविष्य और वर्तमान की बातें आपको एकदम ठीक-ठीक बतला सकता हूँ। (श्लोक २७६-२७९)

राजा बोले—हे विप्र, वर्तमान के अल्प समय में जो कुछ होने वाला है वह बताओ ! कारण, अन्य को अपने ज्ञान का परिचय शीघ्रता से करवा देना ही ज्ञान का फल है। (श्लोक २८०)

तब ब्राह्मण ने कहा—आज से सातवें दिन समुद्र समस्त संसार को जलमय कर प्रलय कर देगा। (श्लोक २८१)

यह सुनकर राजा के मन में क्षोभ और विस्मय एक साथ उत्पन्न हुआ। अतः उन्होंने अन्य ज्योतिषियों की ओर देखा। राजा के भृकुटि संकेत को समझकर ब्राह्मण की इस असम्भव बात पर क्रुद्ध होकर ज्योतिषियों ने उपहास के स्वर में कहा—महाराज, लगता है, यह कोई नवीन ज्योतिषी प्रकट हुआ है या फिर इसके ज्योतिष-शास्त्र की ही नवीन सृष्टि हुई है जिसके परिणामस्वरूप यह सुनने में दुःखदायी ऐसा वाक्य बोल रहा है कि समस्त जगत् जलमय हो जाएगा; किन्तु क्या ग्रह-नक्षत्र तारादि भी नवीन सृष्ट हुए हैं जिनकी वक्रगति के आधार पर यह इस भाँति बोल रहा है ? जितने भी ज्योतिष-शास्त्र हैं वे सर्वज्ञों के शिष्य गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी पर आधारित हैं। उनके अनुसार विचार करने

पर तो ऐसा नहीं लगता। ये सूर्यादि ग्रह जो कि उन शास्त्रों से सम्बन्ध रखते हैं वे तो अनुमान से भी ऐसा नहीं कहते। लवण समुद्र ने जम्बूद्वीप को घेर रखा है। वह कभी भी इस ब्राह्मण की तरह मर्यादा का त्याग नहीं कर सकता। आकाश या पाताल से कोई नया समुद्र उत्पन्न हुआ हो तो वह विश्व को जलमय कर सकता है। यह ब्राह्मण दुस्साहसी, पिशाच का साधक और मत्त एवं उन्मत्त है। स्वभाव से ही बात पीड़ित है या असमय में शास्त्र पढ़ा है या यह मृगी का रोगी है अतः उच्छृङ्खल बनकर ऐसे वाक्य बोल रहा है। आप मेरु की तरह स्थिर और पृथ्वी की तरह सबको सहन करते हैं इसीलिए दुष्ट व्यक्ति स्वच्छन्दतापूर्वक ऐसी बात बोल सकता है। ऐसी बात साधारण लोगों के सम्मुख भी नहीं कही जा सकती तब फिर कोप और कृपा की शक्ति से सम्पन्न आपके सम्मुख तो बोला ही कैसे जा सकता है? ऐसे दुर्वचन बोलने वाला क्या धीर है? या ऐसे वचनों को सुनकर भी जो क्रुद्ध नहीं होता वह श्रोता ही धीर है? यदि इन वाक्यों पर स्वामी की श्रद्धा हो तो हो कारण यह वाक्य तो बिना प्रमाण के ही स्वीकार करना होगा। पर्वत उड़ सकता है, आकाश में फूल खिल सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है, वन्ध्या के पुत्र हो सकता है, गधे के सींग हो सकते हैं; किन्तु इसका कथन कभी भी सत्य नहीं हो सकता।

(श्लोक २८२-२९८)

अपनी राजसभा के ज्योतिषियों की बात सुनकर योग्य और अयोग्य के ज्ञाता राजा ने कौतूहलपूर्वक नए ज्योतिषी की ओर देखा। वह ज्योतिषी भी मानो राज-ज्योतिषियों की उक्ति से प्रेरणा प्राप्त की हो इस भाँति उपहासपूर्ण वाणी में बोला—हे राजन्, आपकी सभा के मंत्री क्या विदूषक हैं या वसन्त ऋतु के विनोद के व्यवस्थापक? या ग्राम-पण्डित? हे प्रभो, आपकी सभा में यदि इस प्रकार के सभासद् रहेंगे तो चतुरता निराश्रित होकर नष्ट हो जाएगी। राजन्, आप विश्व में चतुर हैं। आपका इन मुग्ध मूर्खों के साथ बातचीत करना केशरी सिंह का शृगाल से बातचीत करने जैसा अशोभनीय है। यदि ये कुलक्रमागत रूप में आपके सेवक हैं तो इन अल्पबुद्धि वालों को स्त्रियों की तरह पोषण करें। स्वर्ण और माणिक्य के मुकुट में जिस प्रकार कांच-खण्ड शोभा नहीं देता उसी प्रकार ये आपकी सभा में बैठने योग्य

नहीं हैं। ये जरा भी शास्त्रों के रहस्य को नहीं समझते। ये शुक की भाँति पाठ रटकर ही अभिमानी हो गए हैं। मिथ्या गाल बजाने वाले एवं गधे की पूँछ को पकड़े रहने वाले व्यक्तियों की ही यह वाणी है, किन्तु जो रहस्यार्थ को जानते हैं वे तो विवेचना करके ही बोलते हैं। अर्थवाह की प्रतिभूति को यदि ऊँट की पीठ पर बैठा दें और वह देशान्तरों में घूम आए तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह पथों का ज्ञाता है? जिसने कभी जल में पाँव नहीं रखा वह लौकी के खोल को बाँधकर तैर सकता है; किन्तु क्या उससे यह कहा जाएगा कि वह तैरना जानता है? इसी तरह उन्होंने गुरु के कथन से शास्त्रों को पढ़ा है; किन्तु उसका रहस्यार्थ बिल्कुल नहीं जानते। यद्यपि इन दुर्बुद्धियों को हमारी बात का विश्वास नहीं होगा फिर भी क्या विश्वास प्रदानकारी वह सातवाँ दिन अधिक दूर है? हे राजेन्द्र, महासमुद्र यदि अपनी उत्ताल तरंगों से जगत को जलमय कर हमारे वचन को सत्य कर देता है तो क्या ज्योतिष ग्रन्थ के ज्ञाता आपके ये सभासद् पर्वत के पक्षियों की तरह उड़ते रहेंगे? वृक्षों की तरह आकाश में फूल खिला है देखेंगे? अग्नि को जल की तरह शीतल कहेंगे? बन्ध्या के क्या धेनु की तरह पुत्र जन्माएँगे? भैंस की तरह क्या गर्दभ को सींग वाला कहेंगे? पत्थर जहाज की तरह जल में तैर रहा है कहेंगे? नारकियों को क्या वेदना रहित करेंगे? या इस प्रकार असामञ्जस्यपूर्ण कथन करने वाले ये मूर्ख सर्वज्ञ भाषित शास्त्र को अन्यथा करेंगे? राजन्, मैं सात दिनों तक आपके कर्मचारियों के अधीन रहूँगा। कारण जो मिथ्याभाषी हैं वे इस प्रकार नहीं रह सकते। यदि मेरा कथन सातवें दिन सत्य न हो तो चोर की तरह चाण्डाल द्वारा मुझे दण्ड दें।

(श्लोक ३००-३१९)

तब राजा बोले, इस ब्राह्मण की बात संदिग्ध, अनिष्टकर या असम्भव हो या सत्य हो सातवें दिन आप सभी का सन्देह मिट जाएगा। तभी सत्यासत्य की विवेचना की जा सकेगी। फिर उन्होंने उस ब्राह्मण को अपनी बन्धक रखी वस्तु की तरह निज अङ्गरक्षक को सौंपा और सभा विसर्जित कर दी। उस समय नगर के लोग विभिन्न प्रकार की बातें करने लगे—ओह! आज के सातवें दिन महान् कौतुक देख सकेंगे। खेद है कि उन्मत्त की तरह बोलने

वाला यह ब्राह्मण सातवें दिन मारा जाएगा। यह भी हो सकता है कि युगान्तर ही घटित हो नहीं तो क्या अपने प्राणों को संकट में डालकर कोई ऐसा कहेगा? ब्राह्मण सोचने लगा, मैं सातवें दिन सबको आश्चर्यचकित कर दूंगा। उत्सुकता के आधिक्य के कारण उस ब्राह्मण ने बहुत कष्ट से सात दिन व्यतीत किए। संशय मिटाने के लिए राजा ने भी बार-बार गिनते हुए छह दिनों को छह मास की तरह व्यतीत किया। सप्तम दिन राजा चन्द्रशाल (छत) पर बैठकर ब्राह्मण से बोले—हे विप्र, आज तुम्हारे वाक्य और जीवन की अवधि पूर्ण हुई, कारण तुमने कहा था कि सातवें दिन प्रलय के लिए समुद्र उत्क्षिप्त होगा; किन्तु अभी तक तो कहीं ज्वार के चिह्न पर्यन्त दिखायी नहीं पड़े हैं। तुमने तो कहा था कि सब कुछ प्रलय हो जाएगा। अतः सभी तुम्हारे वैरी हो गए हैं। यदि तुम्हारा कथन मिथ्या निकला तो सभी तुम्हें दण्ड देने को उत्सुक हो जाएंगे; किन्तु तुम हो तुच्छ व्यक्ति। तुम्हें दण्ड देकर भी मुझे क्या लाभ होगा? अतः अब तुम यहाँ से चले जाओ। लगता है तुमने यह कथन उन्मत्त अवस्था में कहा था। (श्लोक ३२०-३२९)

फिर उन्होंने रक्षकों को आज्ञा दी—बेचारे इस गरीब को छोड़ दो ताकि यह सुख-स्वच्छन्दतापूर्वक चला जाए। इस पर हास्य-मुख उस ब्राह्मण ने कहा—महात्माओं को यह योग्य ही है कि वे सबके प्रति दयालु होते हैं; किन्तु हे राजन्! जब तक मेरी प्रतिष्ठा मिथ्या नहीं हो जाती है मैं दया का पात्र नहीं हूं। जब मेरा कथन झूठ निकलेगा तब आप मेरा वध कराने में समर्थ होंगे। जब मैं वध के योग्य हो जाऊंगा तब यदि आप मुझे छोड़ देंगे तो दयालु कहलाएंगे। यद्यपि आपने मुझे छोड़ दिया है; किन्तु मैं यहाँ से जाऊंगा नहीं, कैदी की तरह रहूँगा। अब मेरे कथन को सत्य प्रमाणित होने में सामान्य-सा ही समय अवशेष है। अल्प समय के लिए धैर्य रखें और यहाँ अवस्थित रहकर यमराज के अग्रगामी सैनिकों के समान समुद्र की धावमान तरंगों को देखें। आपकी सभा के ज्योतिषियों को अल्प समय के लिए साक्षी रखें। कारण, क्षण मात्र के पश्चात् आप, मैं और ये कोई यहाँ नहीं रहेंगे।

(श्लोक ३३०-३३६)

ऐसा कहकर वह मौन हो गया। क्षण भर के पश्चात् ही मृत्यु की गर्जना-सा एक अव्यक्त शब्द सुना गया। अकस्मात् होने

वाले उस वेदनादायक शब्द को सुनकर सभी वन्य हरिण की तरह उत्कर्ण हो गए। तब उस ब्राह्मण ने कुछ माथा उठाकर, कुछ आसन से उठकर, कुछ ओष्ठ वक्र कर कहा—हे राजन्, आकाश और पृथ्वी को व्याप्त करने वाली गर्जना सुनिए—यह आपके प्रयाणकालीन झंझा ध्वनि की तरह है। जिसका सामान्य जल ग्रहण कर पुष्करावर्त्तादि मेघ समस्त पृथ्वी को डुबा देने में समर्थ हैं वही समुद्र मर्यादा का उल्लङ्घन कर अबाधगति से इस पृथ्वी को डुबाने आ रहा है। वह देखिए—समुद्र गह्वरादि को भर रहा है। वृक्षों को मथित कर रहा है, भूमि को आच्छादित कर रहा है, पर्वतों को डुबा रहा है। ओह! कैसा दुर्वार है यह समुद्र! जोर से आंधी आने पर उससे बचने के लिए घर में प्रवेश किया जा सकता है, आग को बुझाने के लिए जल का प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु धावमान समुद्र को रोकने के लिए कोई उपाय नहीं है। जब ब्राह्मण यह कह रहा था तभी देखते-देखते मृगतृष्णा के जल की तरह दूर से चारों तरफ व्याप्त जलराशि दिखाई पड़ी।

(श्लोक ३३७-३४५)

जिस प्रकार कसाई विश्वास करने वाले को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार समुद्र ने विश्व का संहार कर दिया है—ऐसी हाहाकार ध्वनि उठी। लोग क्रुद्ध होकर जोर-जोर से चिल्लाने लगे—तब वह ब्राह्मण राजा के पास आकर अंगुली से दिखाता हुआ क्रूर की तरह बताने लगा—देखिए, उधर डूब गया, वह देखिए उधर डूब गया। अन्धकार की तरह जल से पर्वतों के शिखर तक ढक गए हैं मानो ये सारे वन जल ने उखाड़कर फेंक दिए हों। अतः वे सारे वृक्ष अनेक प्रकार से जल-जन्तुओं की तरह तैरते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। थोड़े समय के अन्दर ही यह जल ग्राम, खान और नगरों को विनष्ट कर देगा। ओह! ऐसी भवितव्यता को धिक्कार है। पीछे से चुगली करने वाले व्यक्ति का वह दोष जिस प्रकार उसके अन्य सद्गुणों को ढंक देता है उसी प्रकार उच्छृङ्खल जल-राशि ने समस्त नगर को ढंक दिया है। हे राजन्, समुद्र का जल इस प्रकार दुर्ग के चारों ओर परिखा की तरह व्याप्त हुआ जा रहा है और प्राकारों पर आघात कर रहा है। अब यह जल दुर्ग में प्रवेश कर रहा है। ऐसा मालूम हो रहा है कि घोड़ा सवार सहित उसे लाँघ रहा है। देखिए, समुद्र जल से सारे मन्दिर, प्रासाद, नगर

कुण्ड की तरह भर रहे हैं। हे राजन्, अश्वारोही सैन्य की तरह वह जल गरजता हुआ आपके गृह-द्वार की ओर तेजी से आ रहा है। हे पृथ्वीपति, जल में डूबे नगर का मानो शेष भाग हो इस प्रकार आपका प्रासाद इस समय मन्दउन्नत लग रहा है। आपकी कृपा से उन्मत्त राज-सेवक जिस प्रकार आपके प्रासाद के शिखरों पर चढ़ रहे हैं जल भी उसी प्रकार अबाध गति से प्रासाद के शिखर की ओर दौड़ा आ रहा है। आपके प्रासाद की पहली मञ्जिल जल में डूब गई है, दूसरी डूब रही है, तीसरी ने भी डूबना प्रारम्भ कर दिया है। वह देखिए, देखते-देखते चतुर्थ, पञ्चम और छठी मंजिल भी जल में डूब गई है। विष के वेग की तरह चारों ओर से जल का ज्वार इस घर के चारों ओर आ रहा है। हे राजन्, वह देखिए, प्रलय हो गया। मैंने जैसा कहा था वैसा ही हुआ। उस समय जो मुझे देखकर हंस रहे थे आपकी सभा के वे ज्योतिषीगण अब कहाँ गए? (श्लोक ३४६-३६१)

तब विश्व-संहार के शोक से व्याकुल राजा उठे और मर्कट की भाँति पानी में छलांग लगा गए। क्षणमात्र के पश्चात् ही राजा ने स्वयं को पूर्ववत् ही सिंहासन पर बैठा पाया, वह समुद्र-जल मुहूर्त्त भर में न जाने कहाँ अन्तर्हित हो गया? राजा के नेत्र आश्चर्य से विस्फारित हो गए। उन्होंने देखा—वृक्ष, पर्वत, दुर्ग और समस्त विश्व जैसा था वैसा ही है। (श्लोक ३६२-३६५)

तत्पश्चात् वह ऐन्द्रजालिक ने ढोलक लेकर बजाते हुए कहा—प्रथम मैं इन्द्रजाल के प्रयोगकर्ता और सर्वप्रथम इन्द्रजाल के रचयिता संवर नामक इन्द्र के चरण-कमलों में प्रणाम करता हूं। अपने सिंहासन पर बैठे राजा ने आश्चर्य के साथ उस ब्राह्मण से पूछा—यह सब क्या है? तब ब्राह्मण ने कहा—मैं आपको समस्त कलाओं का ज्ञाता और गुणग्राही समझकर आपके पास आया था। उस समय आपने मेरा यह कहकर तिरस्कार कर दिया कि इन्द्रजाल मतिभ्रष्ट बनाता है एवं बिना इन्द्रजाल को देखे ही आपने मुझे धन देना चाहा था। मैंने वह ग्रहण नहीं किया और क्रुद्ध होकर चला गया। गुण वालों के गुणों को प्राप्त करने में जो श्रम होता है वह खूब धन प्राप्त होने से सार्थक नहीं होता। गुणी के गुण को जानने से ही वह सार्थक होता है। अतः मैंने कपट ज्योतिषी बनकर आपको स्व-इन्द्रजाल विद्या दिखाई। अब आप प्रसन्न हों। मैंने आपके

सभासदों का तिरस्कार किया और बहुत समय तक आपको मोहाविष्ट रखा उसकी उपेक्षा करिए। कारण, तत्त्व दृष्टि से तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। (श्लोक ३६६-३७३)

ऐसा कहकर वह ऐन्द्रजालिक चुप हो गया तब परमार्थ के ज्ञाता राजा अमृत-सी मधुर-वाणी में बोले—हे विप्र, तुमने राजा और राज-सभासदों का तिरस्कार किया इसके लिए भयभीत मत बनो, कारण तुम मेरे महान् उपकारी हो। तुमने मुझे इन्द्रजाल दिखाकर यह समझा दिया है कि यह संसार इन्द्रजाल की तरह ही असार है। जिस प्रकार तुमने जल प्रकट किया जो कि देखते-देखते ही विलीन हो गया उसी प्रकार इस संसार के सारे पदार्थ भी प्रकट होकर नष्ट हो जाने वाले हैं। ओह, इस संसार में अब मोहग्रस्त होकर क्या रहना है? इस प्रकार राजा ने संसार के अनेक दोषों को दिखाकर विप्र को कृतार्थ किया और तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक ३७४-३७८)

यह कथा कहकर सुबुद्धि प्रधान ने कहा—हे प्रभो, इस संसार को उस राजा ने जैसा बताया है यह संसार वैसा ही है। इन्द्रजाल-सा ही है यह हम निश्चित रूप से मानते हैं। फिर आप तो सब कुछ जानते ही हैं कारण आप सर्वज्ञ कुल में चन्द्रमा तुल्य हैं।

(श्लोक ३७९)

तदुपरान्त वृहस्पति से बुद्धिमान द्वितीय मंत्री शोक-शल्य दूर करने वाले वचनों में नृप श्रेष्ठ से कहने लगे—बहुत दिनों पूर्व भरत क्षेत्र में एक नगर था। वहाँ विवेकादि गुणों की खान एक राजा थे। एक बार जब वे सभा में बैठे थे छड़ीदार ने कहा—एक व्यक्ति बाहर खड़ा है, वह स्वयं को माया प्रयोग में दक्ष मानता है। विशुद्ध बुद्धिमान राजा ने उसे राजसभा में आने की अनुमति नहीं दी। कारण, मायावी और सरल मनुष्यों में परस्पर शाश्वत स्वाभाविक शत्रुता की भाँति मित्रता नहीं होती। अन्दर जाने की अनुमति न पाकर वह मायावी खिन्न होकर चला गया।

(श्लोक ३८०-३८३)

कुछ दिनों पश्चात् वही मायावी कामरूपी देव का रूप बनाकर आकाशपथ से सभा में आया। इसके एक हाथ में तलवार तथा अन्य हाथ में बरछी थी। साथ में एक सुन्दर स्त्री भी थी।

उसे देखकर राजा ने पूछा—तुम कौन हो? यह स्त्री कौन है? तुम यहाँ क्यों आए हो? (श्लोक ३८४-३८६)

उसने कहा—राजन्, मैं विद्याधर हूं। यह विद्याधरी मेरी पत्नी है। एक विद्याधर से मेरी शत्रुता हो गयी है। उस लम्पट दुरात्मा ने मेरी स्त्री का उसी प्रकार हरण कर लिया जिस प्रकार राहु चन्द्र-सुधा को हर लेता है। मैं उसे छुड़ाकर लाया हूँ। कारण हे राजन्, नारी का अपमान तो पशु भी नहीं सह सकते। इस पृथ्वी को धारण कर आपके प्रचण्ड भुजदण्ड सार्थक हो गए हैं। दरिद्रों के दारिद्रय को दूर कर आपकी सम्पत्ति सफल हुई है। भयभीत को अभयदान देकर आपका पराक्रम कृतार्थ हुआ है। विद्वानों के संशय को दूर कर आपकी विद्वत्ता अमोघ बन गयी है। विश्व के कण्टकों को दूर करने में आपका शस्त्र-कौशल सफल हुआ है। इसके अतिरिक्त आपके अन्य गुण भी विभिन्न प्रकार के परोपकार में कृतार्थ हुए हैं। आप पर-स्त्री को भगिनी समान समझते हैं यह भी विश्व-विख्यात है। अब यदि आप मेरा एक उपकार करें तो आपके ये सभी गुण विशिष्ट फलदायी होंगे। मेरी पत्नी के मेरे साथ रहने से मैं बंध गया हूं। इसलिए कपटी शत्रु से युद्ध नहीं कर सकता। मैं आपसे हाथी, अश्व, पदातिक सेना नहीं माँगता। केवल आपकी आत्म-सहायता चाहता हूँ। अतः न्यास रूप में रखी सम्पत्ति की तरह आप मेरी पत्नी की रक्षा करें क्योंकि आप पर-स्त्री के लिए सहोदर हैं। कई अन्य भी रक्षा करने में समर्थ हैं; किन्तु वे पर-स्त्रीगामी होते हैं। कई पर-स्त्रीगामी नहीं होते; किन्तु दूसरे की रक्षा करने में समर्थ नहीं होते; किन्तु आप तो पर-स्त्रीगामी भी नहीं हैं और न ही अन्य की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसीलिए बहुत दूर से आकर मैंने आपसे यह प्रार्थना की है। यदि आप मेरी पत्नी को न्यास रूप में स्वीकार करें तो""यद्यपि समय बलवान है फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि शत्रु विनष्ट हो जाएगा। (श्लोक ३८७-३९९)

उसकी बात सुनकर हास्य रूपी चन्द्रिका से जिनका मुख-मण्डल उल्लसित है वे उदार और चरित्रवान् राजा बोले—हे भद्र, जिस प्रकार कल्पवृक्ष से केवल पत्ते माँगना, समुद्र से जल, कामधेनु से दुग्ध, रोहणाद्रि से पत्थर, कुबेर के भण्डारी से अन्न और मेघ से केवल छाया की प्रार्थना करना हास्यास्पद है वैसे ही तुमने

इतनी दूर से आकर मुझसे यह क्या माँगा ? तुम मुझे अपने शत्रु को दिखाओ ताकि मैं उसे निहत करूँ और तुम निःशंक होकर संसार के सुख भोग करो। (श्लोक ४००-४०३)

राजा की वाणी रूपी अमृत के प्रवाह से उसकी श्रवणेन्द्रिय भर उठी। वह हर्षित होकर राजा से कहने लगा—सोना, रूपा, रत्न, पिता, माता, पुत्र, अन्य जो कुछ भी है वे अल्प विश्वास से ही दूसरे के पास रखे जा सकते हैं; किन्तु स्व-पत्नी को तो बहुत बड़े विश्वस्त के पास भी नहीं रखा जा सकता। हे राजन्, ऐसा विश्वासपात्र आपके अतिरिक्त और कोई नहीं है। कारण चन्दन का स्थान एकमात्र मलयाचल ही है। आप मेरी स्त्री को न्यास रूप में स्वीकार लें तो मैं समझूँगा कि आपने मेरे शत्रु को ही निहत कर दिया है। हे राजन्, आपने मेरी पत्नी को न्यास रूप में स्वीकार कर लिया है इससे मैं आश्वस्त हो गया हूं। मैं अभी जाकर अपने शत्रु को निहत कर उसकी पत्नी को विधवा करूँगा। आपके सिंहासन पर बैठे रहते ही मैं उत्पतित् होकर अपने पराक्रम का प्रदर्शन करता हूँ। आप आज्ञा दीजिए ताकि गरुड़ की तरह स्वच्छन्द गति से मैं आकाश में चला जाऊँ। (श्लोक ४०४-४११)

राजा ने कहा—हे विद्याधर वीर, तुम स्वच्छन्दतापूर्वक जाओ। तुम्हारी पत्नी मेरे घर अपने पितृ-गृह की भाँति ही अवस्थान करेगी। (श्लोक ४१२)

फिर वह व्यक्ति पक्षी की तरह आकाश में उड़ा और दो पंखों की तरह तीक्ष्ण और प्रकाशवान तलवार एवं बरछी को प्रसारित करते हुए आकाश में अदृश्य हो गया। राजा ने उसकी पत्नी को कन्या की तरह आश्वासन दिया जिससे स्वस्थ होकर वह वहीं बैठ गयी। अपने सिंहासन पर बैठे हुए ही राजा ने आकाश में मेघ-गर्जन-सा सिंहनाद सुना। विद्युत की कड़-कड़ ध्वनि-सी तलवार और ढालों की खनखनाहट सुनी। यह रहा मैं, यह रहा मैं, नहीं नहीं, खड़े रहो, खड़े रहो, मृत्यु के लिए प्रस्तुत हो जाओ—आदि शब्द आकाश से प्रवाहित होते हुए आने लगे। राजा सभा में बैठे अन्य सभासदों के साथ आश्चर्यान्वित होकर बहुत देर तक मानों ग्रहण देख रहे हों इस प्रकार आकाश की ओर देखते रहे। उसी समय राजा के निकट रत्न कड़े से शोभित एक हाथ आकर गिरा। आकाश से गिरा वह हाथ किसका है जानने

के लिए विद्याधरी उसके पास गयी। देखते ही बोल उठी, मेरे ललाट तिलक, कर्णफूल और कण्ठहार-सा यह हाथ मेरे पति का ही है। (श्लोक ४१३-४२७)

वह स्त्री इस प्रकार जब बोल रही थी और मृगी की तरह देख रही थी उसी समय यह निश्चित कराने के लिए कि यह हाथ किसका है एक पाँव आकर जमीन पर गिरा। कड़ा पहने हुए उस पाँव को देखकर और पहचानकर रोती-रोती वह कमलवदना बोली—अरे, यह तो मेरे पति का ही वह पाँव है जिसे मैंने अपने हाथों से मला है, धोया है, पोंछा है और विलेपन किया है। वह इस भाँति विलाप कर ही रही थी कि उसी समय अन्धड़ से टूटे हुए वृक्ष की डाल-सा आकाश से दूसरा हाथ आकर जमीन पर गिर पड़ा। रत्न-जटित भुजबन्ध व कड़े युक्त उस हाथ को देखकर धारायन्त्र की पुत्तलिका की तरह अश्रु प्रवाहित करती हुई वह बोल उठी—हाय! हाय! यह तो मेरे पति का दाहिना हाथ है जो कंकतिका से मेरी माँग में सिन्दूर भरता था और विचित्र पत्र-लतिका की लीला-लिपि लिखता था। उसकी बात समाप्त भी न हो पायी कि आकाश से एक और पाँव आकर गिरा। उसे देखकर वह पुनः बोल उठी—हाय! हाय! यह मेरे पति का ही पाँव है जिसे मैं अपने हाथों से दबाती थी और मेरी गोद में सुलाती थी। तभी एक मुण्ड, एक स्कन्ध उस स्त्री को रुलाता हुआ, उस पृथ्वी को कँपाता हुआ जमीन पर आ गिरा। (श्लोक ४२८-४३०)

फिर वह स्त्री रोती हुई कहने लगी—हाय! उस कपटी शत्रु ने मेरे पति को मार डाला। मेरा तो सर्वनाश हो गया। यही है मेरे पति का वह कमल तुल्य मुख, जिसे मैंने परम प्रीति के साथ कुण्डलों से सजाया था। हाय! यही है मेरे पति का विशाल वक्ष, जिसमें बाहर-भीतर केवल मेरा ही निवास था। हे नाथ! अब मैं अनाथ हो गई हूं। हे स्वामी, तुम्हारे बिना अब कौन नन्दन वन से पुष्प लाकर मेरे केशदाम को सज्जित करेगा? किसके साथ एक आसन पर बैठकर आकाश में विचरण करते हुए सुखपूर्वक वल्लकी वीणा बजाऊँगी? कौन मुझे अब वीणा की भाँति अपनी गोद में बैठाएगा? शय्या पर फैले मेरे केशों को कौन ठीक करेगा? प्रौढ़ स्नेह की क्रीड़ा से अब मैं किस पर कोप करूँगी? अशोक वृक्ष की तरह पद-प्रहार किसे हर्षोत्फुल्ल करेगा? हे प्रिय, कौमुदी

की तरह गो-शीर्ष चन्दन के रस से कौन मेरा अङ्गराग करेगा ? सैरन्ध्री दासी की भाँति मेरे कपोल पर, ग्रीवा पर, ललाट पर और स्तनकुम्भों पर कौन पत्र-रचना करेगा ? मुझ रूठी हुई को राज-मैना की तरह कौन बुलाएगा ? निद्रा का छल कर सो जाने पर अब कौन मुझे 'हे प्रिये, हे देवी' आदि मधुर वाणी से जगाएगा ? आत्मा की विडम्बना तुल्य अब क्यों देर करूँ ? अत: हे नाथ, महामार्ग के हे महान् पथिक ! मैं आपका अनुसरण कर रही हूँ।

(श्लोक ४३१-४४२)

इस प्रकार विलाप करती हुई उस स्त्री ने पति के मार्ग का अनुसरण करने की इच्छा से राजा के सम्मुख करबद्ध होकर वाहन की तरह अग्नि की याचना की। राजा उसे बोले—बेटी, तुम्हारा संकल्प पवित्र है; किन्तु पति की स्थिति को पूर्णतया जाने बिना तुम यह क्या कह रही हो ? कारण, राक्षस और विद्याधर इस प्रकार की माया भी रचते हैं। अत: कुछ समय तक अपेक्षा करो। बाद में आत्म-साधन तो तुम्हारे हस्तगत ही है। (श्लोक ४४३-४४५)

तब वह पुन: बोली—ये मेरे पति ही हैं। इसमें भूल नहीं है। युद्ध में वे इसी प्रकार काट कर मार डाले गए हैं। संध्या सूर्य के साथ ही उदित होती है और उसी के साथ अस्त होती है। इसी भाँति पतिव्रता नारी भी पति के साथ ही जीवित रहती है और पति के साथ ही मृत्यु को वरण करती है। अब जीवित रहकर क्यों पिता और पति के निर्मल कुल को कलङ्कित करूँ ? मैं आपकी धर्म-कन्या हूं। उसे पतिहीन होकर भी जीवित देखकर हे पिता, कुल स्त्री के धर्म के ज्ञाता होने पर आप क्यों लज्जित नहीं हो रहे हैं ? जिस भाँति चन्द्र के बिना चन्द्रिका नहीं रहती, मेघ के बिना विद्युत, उसी भाँति पति के बिना जीवित रहना भी उचित नहीं है। अत: अब अनुचरों को आदेश देकर मेरे लिए काष्ठ मँगवा दें (चिता के लिए) ताकि मैं अग्नि में पति के साथ जल की तरह प्रवेश करूँ। (श्लोक ४४६-४५१)

उसकी यह विनती सुनकर वे दयालु राजा शोक से विह्वल हुई वाणी में बोले—हे बेटी, कुछ क्षण और धैर्य रखो। पतङ्ग की तरह जलकर मरना तुम्हारे लिए उचित नहीं होगा। छोटा कार्य भी बिना विचारे नहीं करना चाहिए। (श्लोक ४५२-४५३)

राजा की बात सुनकर इस बार वह क्रुद्ध हो उठी और

बोली—आप अभी भी मुझे रोक रहे हैं ? इससे लगता है आप पिता नहीं हैं। आप पर-स्त्री सहोदर के नाम से ही विख्यात हैं; किन्तु वह तो केवल लोगों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए है, परमार्थ के लिए नहीं। यदि आप सचमुच ही धर्मात्मा पिता हैं तो स्व-कन्या को इसी मुहूर्त में अग्नि-मार्ग से पति के निकट जाने दें।

(श्लोक ४५४-४५६)

इस प्रकार बाध्य होकर राजा ने उसे उसकी इच्छा पूर्ण करने की आज्ञा दे दी और बोले—बेटी, अब मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा अब तुम अपना सतीव्रत पूर्ण करो। (श्लोक ४५७)

तब उस स्त्री ने प्रसन्न होकर राजा द्वारा मँगवाए रथ पर अपने हाथों से आदरपूर्वक पति की देह और अपनी देह को रखा और अपनी देह पर अङ्गराग कर श्वेत वस्त्र पहन केशों में फूल गूँथकर पूर्व की भाँति ही पति के निकट जा बैठी। मस्तक नीचा किए शोकमग्न राजा रथ के पीछे-पीछे चले। नगर-निवासी आश्चर्यपूर्वक उस दृश्य को देखने लगे। इस भाँति वह नदी तट पर आयी। मुहूर्त्त भर में अनुचरों ने चन्दन काष्ठ लगाकर मानो मृत्युदेव की शय्या हो इस प्रकार चिता सजा दी। तदुपरान्त पिता की भाँति राजा ने उसे धन दिया। उस धन को उसने कल्पलता की तरह याचकों में वितरित कर दिया। अंजलि में जल भरकर दक्षिणावर्त्त से ज्वालामयी अग्नि को प्रदक्षिणा दी और सती के सत् धर्म का पालन कर पति की देह के साथ गृह की भाँति चिता की अग्नि में इच्छापूर्वक प्रवेश किया। खूब घी से सिंचित वह अग्नि आलोक शिखा से आकाश को प्रकाशित कर धू-धू करती जलने लगी। विद्याधर की देह, वह स्त्री और समस्त काष्ठ-खण्ड समुद्र में गिरा जल जैसे लवणमय हो जाता है उसी प्रकार जलकर राख हो गया। (श्लोक ४५७-४६६)

तदुपरान्त राजा निवापाञ्जलि देकर शोक-मथित हृदय से प्रासाद को लौट गए। (श्लोक ४६७)

शोकाकुल राजा जैसे ही राजसभा में जाकर बैठे कि वैसे ही हाथ में तलवार और बरछी लिए वह विद्याधर आकाश से नीचे उतरा। राजा और राज-सभासदों ने आश्चर्यचकित होकर उसकी ओर देखा। तब वह छद्मवेशी विद्याधर राजा के पास जाकर बोला—हे पर-स्त्री और पर-धन अनिच्छुक राजा, आपके

सद्भाग्य में वृद्धि हो। मैंने जुआड़ी की भाँति किस प्रकार उस शत्रु को जीता वह सुनाता हूं। हे शरेण्य, मैं अपनी पत्नी को आपकी शरण में रखकर ज्यों ही आकाश में उड़ा उस दुष्ट विद्याधर को सर्प जैसे नकुल को देखता है उसी प्रकार देखा। फिर हम दोनों दुर्जय बलीवर्द की तरह गरजने लगे और परस्पर एक दूसरे को युद्ध के लिए ललकारने लगे – अच्छा हुआ आज मैंने तुझे देखा। स्व-बाहुबलों पर घमण्ड करने वाले, तू पहले मुझ पर प्रहार कर ताकि मैं अपनी भुजाओं एवं देवताओं के कौतुक को पूर्ण करूँ। अन्यथा अस्त्र परित्याग कर, दरिद्र जैसे गौ-ग्रास आहार करता है उसी प्रकार दसों उँगलियाँ दाँतों में दबाकर बचने की इच्छा से निःशंक होकर चला जा। इस भाँति परस्पर बोलते-सुनते ढाल-तलवार रूप पंखों को फैलाते मुर्गे की तरह युद्ध करने लगे। चारी-प्रचार (नृत्य में कुछ चेष्टाओं) में चतुर रंगाचार्य की तरह हम एक दूसरे के प्रहार से बचते हुए आकाश में घूमने लगे। हम तलवार रूपी शृङ्ग से गण्डार की तरह एक दूसरे पर प्रहार कर कभी आगे तो कभी पीछे हटने लगे। क्षण भर में हे राजन्, आपको अभिनन्दन करने की तरह मैंने उसका बायाँ हाथ काटकर जमीन पर गिरा दिया। आपको आनन्दित करने के लिए उसका एक पैर कदली-स्तम्भ की तरह खेल ही खेल में काटकर जमीन पर फेंक दिया। फिर हे राजन्, मैंने कमल-नाल की तरह उसका दाहिना हाथ भी काटकर पृथ्वी पर पटक दिया। फिर वृक्ष की डाल की तरह उसका पैर तलवार से काटकर आपके सम्मुख फेंक दिया। तदुपरान्त उसका मस्तक, उसकी देह भी अलग-अलग कर यहाँ फेंक दी। इस भाँति मैंने भरतक्षेत्र के छह खण्डों की भाँति उसके छह खण्ड कर दिए। अपनी कन्या की तरह मेरी स्त्री की न्यास रूप में रक्षा करने वाले आप ही मेरे शत्रु के हननकारी हैं। मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ। आपकी सहायता के बिना उस शत्रु को मैं निहत नहीं कर सकता था। प्रज्वलित अग्नि भी हवा की सहायता के बिना तृण को नहीं जला सकती। आजतक मैं स्त्री या नपुंसक की भाँति ही था। आज आपने मुझे शत्रु को निहत करने का पौरुष दिया है। आप ही मेरे पिता-माता, गुरु और देव हैं। आप जैसा उपकारी अन्य कोई नहीं हो सकता। आप जैसे उपकारी पुरुषों के प्रभाव से ही सूर्य विश्व को प्रकाशित करता है, चन्द्र आनन्दित; वर्षा समय पर जल देती

है, भूमि औषधि; समुद्र निज मर्यादा में स्थित व पृथ्वी स्थिर रहती है। आप मेरी पत्नी जिसे मैं न्यास रूप में आपके पास रख गया था मुझे लौटा दें। राजन्, अब मैं अपनी क्रीड़ा-भूमि को लौट जाऊँगा। शत्रु के निहत हो जाने से मैं वैताढ्य और जम्बूद्वीप के जलकदम्बादि पर आपकी कृपा से लक्ष्मी सहित आनन्द का उपभोग करूँगा। (श्लोक ४६८-४९१)

उसकी बात सुनकर राजा चिन्ता, लज्जा, निराशा और विस्मय से आक्रान्त होकर उससे बोले—हे भद्र, तुम अपनी पत्नी को मेरे पास न्यास रूप में रख गए। थोड़ी देर पश्चात् ही हमने आकाश से आती तलवार और बर्छों की ध्वनि सुनी। तदुपरान्त क्रमशः तुम्हारे हाथ, पाँव, देह और मस्तक धरती पर आ पड़े। तुम्हारी पत्नी ने निश्चयात्मक स्वर में कहा कि ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग मेरे पति के ही हैं। उसने पति के साथ सती होने की इच्छा प्रकट की। कन्या-स्नेह से मैंने उसे रोकने की बहुत चेष्टा की; किन्तु उसने इसका दूसरा अर्थ लेकर मुझे भी अन्य लोगों की भाँति ही समझा। जब उसके आग्रह पर मैंने सम्मति दी तो वह नदी-तट पर गई और सबके सम्मुख पति की खण्ड-खण्ड हुई देह को लेकर चिता पर आरूढ़ हो गई। अभी-अभी मैं उसे निवापाञ्जलि देकर आ रहा हूँ। मन शोक से खिन्न हो रहा है; किन्तु तुम तो लौट आए हो। स्पष्टतया बताओ, क्या वे अंग-प्रत्यंग तुम्हारे नहीं थे? या पहले जो मेरे पास आया था वह तुम नहीं थे? मैं तो संशय से व्याकुल हो गया हूं; किन्तु इस विषय में अज्ञान ने जिसका मुँह बन्द कर दिया है वह इससे अधिक और क्या बोल सकता है?

(श्लोक ४९२-४९९)

यह सुनकर कृत्रिम क्रोध से वह विद्याधर बोला—हे राजन्, कितने दुःख की बात है यह! मैंने लोगों से सुनकर आपको पर-स्त्री सहोदर समझा था; किन्तु देख रहा हूँ वह झूठ था। आपकी उसी प्रसिद्धि से मैंने मेरी पत्नी को आपके पास न्यास रूप में रखा था; किन्तु आपका आचरण देखने में कोमल दिखता हुआ कमल जैसा है जबकि परिणाम में लौह सिद्ध होता है। जो काम मेरे दुराचारी शत्रु ने किया खेद सहित कहता हूँ वही काम आपने भी अब कर डाला है। अब बताइए आप दोनों में क्या पार्थक्य है? राजन्, सचमुच ही यदि आप पर-स्त्री पर आसक्त नहीं हैं और लोकापवाद

से डरते हैं तो मेरी पत्नी मुझे लौटा दें। उसे छिपाकर रखना उचित नहीं। यदि आप-सा पवित्र पुरुष भी अपवित्र हो सकता है तो कृष्ण सर्प की तरह विश्वास-पात्र और कौन होगा?

(श्लोक ५००-५०४)

तब राजा ने कहा—तुम्हारे प्रत्येक अंगों को पहचान कर तुम्हारी पत्नी ने अग्नि-प्रवेश किया है इसमें कोई संशय नहीं। देश-नगर के सभी लोग इसके साक्षी हैं। आकाश में अवस्थित गगन-चक्षु सूर्य भी इसके साक्षी हैं। चार लोकपाल, ग्रह, नक्षत्र, तारक, भगवती पृथ्वी और जगत् के पिता धर्म भी इसके साक्षी हैं। अतः तुम्हारा ऐसा कठोर वचन बोलना उचित नहीं है। इनमें से तुम किसी को भी प्रमाण रूप में पूछ सकते हो।

(श्लोक ५०५-५०८)

राजा की बात सुनकर कृत्रिम क्रोध करता वह विद्याधर कठोर आवाज में पुनः बोला—जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण है वहाँ अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है? आपके पीछे कौन बैठी है देखिए। आपकी बात तो समीप ही चोरी का माल छिपाकर शपथ लेने जैसा है। राजा ने पीछे घूमकर देखा तो वहाँ उसकी पत्नी को बैठा पाया। अतः पर-स्त्री दोष से दूषित हुआ हूँ इसी चिन्ता से जैसे पुष्प ताप से म्लान हो जाता है उसी भाँति म्लान हो गए। निर्दोष राजा को दोष की शङ्का से खिन्न होते देखकर वह व्यक्ति करबद्ध होकर बोला—राजन्, क्या आपको याद है बहुत दिन पहले इन्द्रजाल विद्या का अभ्यास कर आपको दिखाने के लिए मैं आपके पास आया था; किन्तु आपने मुझे द्वार से ही लौटा दिया था? आप मेघ की तरह समस्त विश्व पर कृपा करने वाले हैं; किन्तु दुर्भाग्य से मेरी इच्छा पूर्ण न हो सकी। इसके कुछ दिन पश्चात् ही रूप परिवर्तन कर कपट नाटक के द्वारा मैंने आपको अपनी कला दिखाई। अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हों। अपना गुण चाहे जैसा भी हो उसे महापुरुषों को दिखाना चाहिए अन्यथा गुण को प्राप्त करने में जो परिश्रम होता है वह सफल नहीं होता। आज मेरा श्रम सफल हुआ। अब आज्ञा दें मैं जाऊँ। अपना गुण आपको दिखाकर अन्य स्थान के लिए मैं महार्घ हो गया हूं। राजा ने उसे बहुत धन देकर विदा किया।

(श्लोक ५०९-५१९)

तब राजा सोचने लगे—जिस प्रकार इन्द्रजाल है उसी प्रकार तो यह संसार है। कारण समस्त दृश्य वस्तुएं भी तो जल के बुदबुदे की तरह देखते-देखते विनष्ट हो जाती हैं। इस भांति अनेकविध संसार की असारता विचार कर विरक्त बने राजा ने राज्य परित्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक ५२०-५२१)

कथा सुनाने के पश्चात् मन्त्री बोले—हे प्रभो, यह संसार मेरी कथा के इन्द्रजाल-सा ही है। अतः आप शोक न कर आत्म-सिद्धि के लिए प्रयत्न करें। (श्लोक ५२२)

इस भांति दोनों मन्त्रियों की बात सुनकर महाप्राण के स्थान पर जिस प्रकार महाप्राण आ जाता है उसी प्रकार चक्री के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। राजा सगर तत्त्वपूर्ण वाणी में बोले—तुमने मुझे उचित सुझाव दिया है। जीव स्वकर्मानुसार ही जीवित रहता है और मरता है। इस विश्व में बालक, युवा व वृद्ध अवस्था की कोई सार्थकता नहीं है। बन्धु आदि का मिलन स्वप्न-सा ही है। लक्ष्मी हस्ती के कानों की तरह ही चञ्चल है। यौवन लक्ष्मी पर्वत से निर्गत नदी के समान प्रवाहित हो जाती है और जीवन तृण-शीर्षस्थ जल-बिन्दु-सा है। जब तक यौवन मरुभूमि की तरह उजड़ नहीं जाता, राक्षसी की भांति जीवन का अन्त करने वाली वृद्धावस्था उपस्थित नहीं हो जाती, सन्निपात की तरह इन्द्रियां विकल नहीं हो जातीं और वेश्या की तरह सब कुछ लेकर लक्ष्मी चली नहीं जाती उसके पूर्व स्वयं ही इन सबका परित्याग कर दीक्षा ग्रहण के उपाय से लब्ध स्वार्थ साधनों का प्रयास करना उचित है। जो व्यक्ति इस असार शरीर से मोक्ष प्राप्त करता है वह मानों कांच के बदले मणि, काक के बदले मयूर, कमल-नाल की माला के बदले रत्नहार, दूषित अन्न के बदले क्षीर, छाछ के बदले दूध और गर्दभ के बदले अश्व खरीदता है। (श्लोक ५२३-५३२)

जिस समय सगर राजा इस प्रकार बोल रहे थे तभी अष्टापद के निकट रहने वाले अनेक लोग राजद्वार पर आकर उपस्थित हुए और हमारी रक्षा करें, रक्षा करें कहते हुए उच्च स्वर में प्रार्थना करने लगे। राजा सगर ने द्वारपालों द्वारा उन्हें बुलवाया और पूछा कि क्या हुआ है? तब वे ग्रामीण एक स्वर में बोले—अष्टापद के चारों ओर निर्मित परिखा को पूर्ण करने के लिए आपके पुत्रों ने दण्डरत्न से गंगा नदी का आनयन किया था। उस गंगा ने

पाताल की भाँति दुष्पूर परिखा को क्षणमात्र में भर डाला और अब कुलटा स्त्री जिस तरह दोनों कुलों की मर्यादा का उल्लंघन करती है उसी प्रकार दोनों कूलों का अतिक्रम कर अष्टापद के निकटस्थ ग्राम, आकर और नगरों को डुबाकर समुद्र की ओर फैल रही है। हम लोगों के लिए तो प्रलय काल अभी ही आ गया है। कहिए हम कहाँ जाकर रहें जहाँ कोई उपद्रव न हो ?

(श्लोक ५३३-५३९)

तब सगर चक्री ने अपने पौत्र भगीरथ को बुलवाया और वात्सल्यपूर्ण वाणी में कहा—वत्स, अष्टापद के चारों ओर की परिखा को पूर्णकर इस समय गंगा उन्मत्त स्त्री की भाँति ग्रामों में विचरण कर रही हैं। उसे दण्डरत्न से आकृष्ट कर पूर्वी समुद्र में डाल दो। कारण जल को जब तक पथ नहीं दिखा दिया जाता है तब तक वह अन्धे की भाँति उन्मार्ग पर विचरण करता है। असामान्य बाहु पराक्रम भुवनोत्तर ऐश्वर्य, महान् हस्तीबल, विश्व विख्यात् अश्वबल, महापराक्रमी पदातिक बल, वृहद् रथबल और अति उत्कट प्रताप, निःसीम कौशल और दैवी आयुध जिस प्रकार शत्रु का गर्व हरण करता है उसी प्रकार लगता है कि इन सबके अभिमान ने ही हमें हानि पहुँचायी है। हे पुत्र, अभिमान समस्त दोषों में अग्रणी है, आपत्तियों का स्थान है, सम्पत्ति सुखों का हर्त्ता, परलोक भिजवाने वाला और स्व-शरीर से उत्पन्न शत्रु है। ऐसा अभिमान जब सन्मार्गगामी सामान्य लोगों के लिए भी त्याज्य है तब मेरे पौत्र के लिए तो विशेषतया परित्याज्य है। हे पौत्र, तुम्हें विनीत होकर गुणों की पात्रता प्राप्त करनी होगी। विनयहीन अशक्त मनुष्य भी उत्कृष्ट गुणों को प्राप्त करता है और यदि शक्तिमान पुरुष विनयी बने तो सोने में सुहागे की तरह वह निष्कलंक चन्द्र-सा हो जाता है। सुर-असुर और नागरिकों को तुम्हें यथायोग्य क्षेत्र में और सुख कारक कार्यों में नियुक्त करना होगा। नियोग योग्य कार्यों में नियुक्त करना दोषवाहक नहीं है। किन्तु, जिस प्रकार पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को ताप का सेवन करना दोषयुक्त है उसी प्रकार अनियोग योग्य कार्य में नियुक्त करना उचित नहीं है। ऋषभ स्वामी के पुत्र भरत चक्री ने नियोग योग कार्य में नियुक्त कर देव और दानव दोनों को ही वशीभूत किया है। वे शक्तिमान थे फिर भी देवों के साथ योग्य व्यवहार

कैसे किया जाता है यह बताया था। अतः तुम्हारा भी कुलाचार के अनुरूप व्यवहार करना ही उचित है। (श्लोक ५४०-५५४)

महाभाग भगीरथ ने पितामह की आज्ञा को सादर स्वीकार किया। कारण, जो स्वभावतः ही विनीत है उनको उपदेश देना उत्कृष्ट भित्ति पर चित्राङ्कन जैसा है। (श्लोक ५५५)

तदुपरान्त सगर चक्री ने भगीरथ को अपने प्रताप तुल्य सामर्थ्ययुक्त दण्डरत्न अर्पित कर ललाट चूमकर विदा किया। भगीरथ चक्री के चरण-कमलों में प्रणाम कर दण्डरत्न सहित विद्युत सह मेघ की भाँति वहाँ से प्रस्थान कर गए। (श्लोक ५५६-५५७)

चक्री प्रदत्त सैन्य और उस देश के लोगों द्वारा परिवृत भगीरथ प्रकीर्ण और सामानिक देवों से परिवृत इन्द्र के समान शोभित हो रहे थे। क्रमशः वे अष्टापद के निकट पहुंचे। वहाँ उन्होंने उस पर्वत को समुद्र द्वारा वेष्टित त्रिकूटाद्रि की तरह मन्दाकिनी द्वारा परिवृत पाया। विधिज्ञाता भगीरथ ने ज्वलनप्रभ के उद्देश्य से अष्टम तप किया। अष्टम तप पूर्ण होने पर नागकुमारों के अधिपति ज्वलनप्रभ प्रसन्न होकर भगीरथ के निकट आए। भगीरथ ने गन्ध, पुष्प और धूप द्वारा अनेक प्रकार से उनका पूजन किया। प्रसन्न वदन नागकुमारों के अधिपति ने उनसे पूछा—मैं तुम्हारा क्या उपकार कर सकता हूं? (श्लोक ५५८-५६२)

तब मेघ के समान गम्भीर वाणी में भगीरथ ने ज्वलनप्रभ इन्द्र से कहा—देव, यह गङ्गा नदी अष्टापद के प्राकार को पूर्ण कर क्षुधार्त्त नागिन की तरह चारों ओर फैल गई है। इसने अट्टालिकाओं को भग्न किया है, वृक्षों को विनष्ट किया है, समस्त गह्वर और टीलों को समान बनाया है। पिशाचिनी की तरह उन्मत्त होकर देश को विनष्ट करने वाली इस गङ्गा को यदि आप आज्ञा दें तो दण्डरत्न द्वारा आकृष्ट कर समुद्र में डाल दूं। (श्लोक ५६३-५६७)

प्रसन्न होकर ज्वलनप्रभ ने कहा—तुम अपनी इच्छानुसार कार्य करो। वह निर्विघ्न पूर्ण होगा। तुम मेरी आज्ञा से काम करोगे तो भरत क्षेत्र निवासी मेरी आज्ञा पालनकारी सर्पों द्वारा तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। ऐसा कहकर नागेन्द्र रसातल को चले गए। तब भगीरथ ने अष्टम तप का पारणा किया।

(श्लोक ५६८-५७०)

फिर वैरिणी की तरह पृथ्वी को भेद करने वाली गङ्गा को

आकृष्ट करने के लिए भगीरथ ने दण्डरत्न को ग्रहण किया। प्रचण्ड बाहुबली भगीरथ ने गरजती हुई उस नदी को जिस प्रकार संडासी से माला खींची जाती है उसी भाँति दण्डरत्न से खींचा। तदुपरान्त कुरु देश के मध्य से हस्तिनापुर के दक्षिण से कौशल देश के पश्चिम से, प्रयाग के उत्तर से, काशी व विन्ध्याचल के दक्षिण से और अंग व मगध के उत्तर से होकर आँधी जिस प्रकार तृण को उड़ा देती है उसी प्रकार राह में आई नदियों को आकृष्ट करने वाली उस नदी को पूर्व समुद्र में ले जाकर गिरा दिया। उसी दिन से वह स्थान गङ्गासागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगीरथ ने गंगा को आकृष्ट कर समुद्र में डाला। इसलिए वह भगीरथी नाम से प्रसिद्ध हुई। राह में चलते समय गंगाजल से नागों के गृह विनष्ट हो रहे थे अतः वहाँ उन्होंने नागों के उद्देश्य से बलिदान दिया। भस्मीभूत सगर के पुत्रों की अस्थियों को गंगा का प्रवाह पूर्व सागर में ले आया यह देखकर भगीरथ ने विचार किया—यह खूब अच्छा हुआ कि मेरे पिता और पितृव्यों की अस्थियों को गंगा ने समुद्र में ला फेंका है। यदि ऐसा नहीं होता तो इन अस्थियों को गिद्ध आदि पक्षी चोंच द्वारा पवन से विक्षिप्त फूलों की तरह न जाने किस अपवित्र स्थान में ला डालते। वे ऐसा सोच ही रहे थे तभी जल के उत्पात से रक्षा पाए लोगों ने—तुम लोकरञ्जक हो, लोकरक्षक हो ऐसा कहते हुए बहुत देर तक उनकी प्रशंसा की। उन्होंने पिता और पितृव्यों की अस्थियाँ गंगा में डालीं इसीलिए लोग आज भी मृत व्यक्तियों की अस्थियों को गंगा में डालते हैं। कारण, महापुरुष जो आचरण करते हैं वही साधारण लोगों के लिए आचरणीय हो जाता है। (श्लोक ५७१-५७९)

भगीरथ वहाँ से रथ में बैठकर लौट आए। अपने रथ के वेग से काँसे के पात्र की तरह पृथ्वी से शब्द कराते हुए वे जा रहे थे तब राह में कल्पवृक्ष की तरह स्थिर खड़े एक केवली को देखा। उन्हें देखकर वे रथ से उसी प्रकार आनन्दमना नीचे उतरे जैसे उदयागिरि से सूर्य नीचे उतरता है या आकाश से गरुड़। उस चतुर और भक्त भगीरथ ने उनके निकट जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना कर प्रदक्षिणा दी। फिर योग्य स्थान पर बैठ पूछा—भगवन्, मेरे पिता और पितृव्य किस कर्म के कारण एक साथ जलकर मर गए? त्रिकालज्ञ और करुणा रस-सागर वे केवली भगवान् मधुर वाणी

से बोले—हे राजपुत्र, अनेक लक्ष्मी सम्पन्न मानो कुबेर की लक्ष्मी ने ही उसका आश्रय लिया हो ऐसा श्रावक पूर्ण संघ एक तीर्थयात्रा के लिए निकला। सन्ध्या समय उन्हें कुछ दूरी पर एक ग्राम मिला। वे उस ग्राम में गए और एक कुम्हार के घर के पास डेरा डाला। उस सम्पन्न संघ को देखकर ग्राम-निवासी बड़े प्रसन्न हुए और तीर, धनुष व तलवार लेकर उसे लूटने को अग्रसर हुए; किन्तु पाप के भय से उस कुम्हार ने सबको अमृतमय हितप्रद वचनों से समझा-बुझाकर उस कार्य से निवृत्त किया। उस कुम्हार के आग्रह से ग्राम निवासियों ने उस संघ को उसी प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार हस्तगत पात्र को कोई छोड़ देता है। उस गाँव के सभी लोग चोर थे अतः उस गाँव के राजा ने गाँव को उसी प्रकार जला डाला जिस प्रकार किसी शत्रु के गाँव को जला दिया जाता है। सौभाग्यवश उस दिन कुम्हार किसी की बुलाहट पर अन्य गाँव गया हुआ था एतदर्थ वह अकेला ही बच पाया। कहा भी गया है कि सत्पुरुषों का हर स्थिति में कल्याण ही होता है। तदुपरान्त काल योग से मृत्यु पाकर उस कुम्हार ने विराट् देश में कुबेर के मानो द्वितीय भण्डारी ही हों ऐसे धनवान वणिक के घर जन्म ग्रहण किया। गाँव के उन लोग ने भी, जो जलकर मरे थे विराट् देश में ही साधारण मनुष्यों के रूप में जन्म प्राप्त किया। कारण, एक सा कार्य करने वाले एक रूप स्थान ही प्राप्त करते हैं। उस कुम्हार के जीव ने तृतीय भव में उसी देश के राजा के घर जन्म लिया। वहाँ से मृत्यु प्राप्त कर महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ। वहाँ से च्यवकर अब तुम भगीरथ बने हो और वे ही ग्रामवासी भव भ्रमण करते हुए जह्नु कुमार आदि सगर पुत्रों के रूप में जन्मे। उन्होंने एक साथ मन से संघ के अनिष्ट का जो चिन्तन किया था उसी के फलस्वरूप वे एक साथ ही जलकर राख हुए। इसमें ज्वलनप्रभ नागराज तो निमित्त मात्र हैं। हे महाभाग, तुमने उस समय ग्रामवासियों को निकृष्ट कार्य करने से रोका था इसलिए तुम उस समय भी जलकर नहीं मरे और इस समय भी नहीं मरे। (श्लोक ५८०-६०१)

इस भाँति केवली के मुँह से अपना पूर्व भव सुनकर विवेक के सागर भगीरथ संसार से विरक्त हो गए; किन्तु फिर भी यही सोचकर उस समय दीक्षित नहीं हुए हैं कि यदि वे भी दीक्षा लेंगे तो पितामह पर तो दुःखों के विस्फोट पर विस्फोट का कारण हो

जाएगा। अतः केवली प्रभु की चरण-वन्दना कर रथ पर आरूढ़ हुए और अयोध्या लौट आए। (श्लोक ६०२-६०४)

आज्ञानुपूर्वक कार्य कर लौट आने पर प्रणामरत पौत्र का मस्तक चक्री सगर ने बार-बार आघ्राण किया। तदुपरान्त उसकी पीठ पर हाथ रखकर बोले—हे तात! तुम बालक होने पर भी बुद्धि में स्थविर पुरुषों के अग्रणी हो। इसलिए तुम 'मैं अभी बालक हूं' ऐसा न कहकर इस राज्यभार को ग्रहण करो ताकि मैं भार-रहित होकर संसार-सागर उत्तीर्ण करने का प्रयास करूं। यह संसार यद्यपि स्वयंभूरमण समुद्र की तरह दुस्तर है फिर भी मेरे पूर्व पुरुषों ने उसे उत्तीर्ण किया है। एतदर्थ मेरी भी श्रद्धा है। उनके भी पुत्र राज्यभार ग्रहण करते थे। उन्हीं के द्वारा ही निर्देशित यह पथ है। तुम भी उसी पथ पर चलकर इस पृथ्वी को धारण करो। (श्लोक ६०५-६०९)

भगीरथ पितामह को प्रणाम कर बोले—हे पितामह, आप संसार-सागर को उत्तीर्ण करने हेतु दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं यह उचित ही है; किन्तु मैं भी व्रत ग्रहण करने को उत्सुक हूं। अतः राज्य दान के प्रसाद से मुझे निराश न करें। (श्लोक ६१०-६११)

तब चक्रवर्ती बोले—हे वत्स, व्रत ग्रहण करना हमारे कुल के योग्य है; किन्तु उससे भी अधिक योग्य गुरुजनों का आदेश-पालन रूपी व्रत है। अतः हे महाशय, समय आने पर जब तुम्हारे कवचधारी पुत्र होगा तब उसे राज्यभार सौंपकर तुम भी मेरी तरह व्रत ग्रहण कर लेना। (श्लोक ६१२-६१३)

यह सुनकर भगीरथ गुरुजनों की आज्ञा भंग के भय से भयभीत हो गया। उस भयभीरु का मन विचलित हो गया। अतः बहुत देर तक वे चुपचाप खड़े रहे। तत्पश्चात् सगर चक्री ने परमानन्द से भगीरथ का राज्याभिषेक किया। (श्लोक ६१४-६१५)

उसी समय उद्यान-पालक ने आकर सूचना दी कि उद्यान में भगवान अजितनाथ का समवसरण लगा है। पौत्र के राज्याभिषेक और प्रभु-आगमन के संवाद से चक्री आनन्दित हो उठे। प्रासाद में रहते हुए भी उन्होंने उठकर प्रभु को नमस्कार किया और मानो वे सम्मुख ही खड़े हों इस प्रकार शक्रस्तव से उनकी स्तुति की। भगवान के आगमन का सुसंवाद लाने वाले उद्यानपालक को चक्री ने साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार रूप में दी।

फिर भगीरथ और सामन्तों से परिवृत्त होकर महाराज सगर महासमारोहपूर्वक समवसरण में पहुँचे। जब वे समवसरण के उत्तर द्वार से प्रवेश कर रहे थे तो उन्हें लगा जैसे उनकी आत्मा सिद्धक्षेत्र में प्रवेश कर रही हो। तदुपरान्त चक्री ने धर्म-चक्रवर्ती अजितनाथ स्वामी को प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया और इस प्रकार स्तुति करने लगे। (श्लोक ६१६-६२२)

मेरी प्रसन्नता में आपकी प्रसन्नता व आपकी प्रसन्नता में मेरी प्रसन्नता इस अनन्य आश्रय का पार्थक्य करें और मुझ पर प्रसन्न होवें। हे स्वामी, आपकी रूपलक्ष्मी को सहस्राक्ष इन्द्र भी देखने में असमर्थ हैं एवं आपके गुणों के वर्णन में सहस्रजिह्व शेषनाग भी असमर्थ है। हे प्रभो, आपने अनुत्तर विमान के देवताओं के भी संशय को दूर किया इससे अधिक और कौन-सा गुण स्तुत्य हो सकता है? आप में आनन्द सुख-भोग की शक्ति है तो उसके त्याग की भी शक्ति है। परस्पर इस विरोधाभास पर अश्रद्धालु कैसे श्रद्धा कर सकते हैं? हे नाथ, आप सभी प्राणियों पर उपेक्षा भाव रखते हैं और साथ ही साथ सबके कल्याणकारी भी हैं। यह सत्य बात भी असत्य-सी लगती है। हे भगवन्, ऐसे परस्पर विरोधी गुण अन्य किसी में नहीं हैं। आप में परम त्याग भी है, परम चक्रवर्त्तीत्व भी। दोनों ही एक साथ हैं। जिनके कल्याणक पर्व पर नारकी जीवों को भी सुख प्राप्त होता है उनके पवित्र चरित्र का वर्णन करने की शक्ति किसमें है? आपका शम अद्‌भुत है, आपका रूप अद्‌भुत है और समस्त प्राणियों के प्रति आपकी दया भी अद्‌भुत है। इन सभी अद्‌भुतताओं के भण्डार आपको मैं नमस्कार करता हूँ। (श्लोक ६२३-६६०)

इस भाँति जगन्नाथ प्रभु की स्तुति कर योग्य स्थान पर बैठकर सगर ने उनकी अमृत प्रवाह तुल्य धर्म-देशना सुनी। देशना के अन्त में सगर राजा बार-बार प्रभु को नमस्कार कर करबद्ध होकर गद्-गद् कण्ठ से बोले—हे तीर्थेश, यद्यपि आपके लिए न कोई अपना है न पराया, फिर भी अज्ञानवश होकर मैं आपको भाई की तरह ही देखता हूँ। हे नाथ, जब आप इस दुस्तर संसार-सागर से समस्त जगत का त्राण करते हैं तब मुझसे निमज्जमान की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? हे जगत्पति, अनन्त क्लेशपूर्ण इस संसार रूप गर्त्त में पतित होने से आप मुझे बचाएँ। प्रसन्न होकर

मुझे दीक्षा दें। हे स्वामी, मैं संसार-सुख में आबद्ध होकर मूर्ख और अविवेकी बालक की तरह अपने जीवन को निष्फल एवं नष्ट कर रहा हूं। इस भाँति युक्तकर खड़े सगर राजा को भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी। (श्लोक ६३१-६३७)

तब भगीरथ ने उठकर नमस्कार किया एवं प्रार्थना पूर्ण करने में कल्पवृक्ष-से भगवान के निकट जाकर इस भाँति प्रार्थना की–हे पूज्यपाद, आप मेरे पितामह को दीक्षा दें, पर जब तक निष्क्रमणोत्सव न करूं तब तक प्रतीक्षा करें। यद्यपि मुमुक्षुओं को उत्सवादि की कोई आवश्यकता नहीं होती फिर भी पितामह मेरे आग्रह को स्वीकार करेंगे। (श्लोक ६३८-६४०)

यद्यपि राजा सगर तत्क्षण दीक्षा ग्रहण को उत्सुक थे फिर भी पौत्र के आग्रह पर जगद्गुरु को प्रणाम कर पुनः नगर में लौट आए। तत्पश्चात् इन्द्र जिस प्रकार तीर्थंकरों का दीक्षाभिषेक करता है उसी प्रकार भगीरथ ने सगर राजा को सिंहासन पर बैठाकर उनका दीक्षाभिषेक किया। गन्धकषायी वस्त्र से उनकी देह पोंछी एवं गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। फिर सगर राजा ने दो दिव्य मांगलिक वस्त्र धारण किए और गुणों से अलंकृत होने पर भी देवताओं द्वारा प्रदत्त अलङ्कारों से स्व-देह को अलंकृत किया। तदुपरान्त याचकों को इच्छानुसार धन देकर उज्ज्वल छत्र और चमर सहित शिविका में बैठे। नगरवासियों ने प्रत्येक घर, प्रत्येक दूकान, प्रत्येक पथ पत्रावली को तोरण और मण्डप से सज्जित किया। राह में चलते समय स्थान-स्थान पर देश और नगर के अधिवासियों ने पूर्ण पात्रादि द्वारा उनके बहुत से मङ्गल किए। सभी बार-बार सगर राजा को देखते थे और पूजन करते थे। बार-बार उनकी स्तुति करते और उनका अनुसरण करते। इस प्रकार जैसे आकाश में चन्द्रमा चलता है उसी प्रकार सगर अयोध्या के मध्य धीरे-धीरे चलते हुए मनुष्यों की भीड़ में स्थान-स्थान पर रुकते हुए अग्रसर होने लगे। भगीरथ सामन्त अमात्य परिवार एवं अनेक विद्याधर उनके पीछे-पीछे चलने लगे। इसी क्रम से चलते हुए सगर चक्री प्रभु के निकट पहुँचे। वहाँ भगवान को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम कर भगीरथ द्वारा लाए यति वेश को अंगीकार किया। फिर समस्त संघ के सम्मुख स्वामी की वाचना से उच्च स्वर से सामायिक उच्चारित

करते हुए सगर ने चार महाव्रतरूप दीक्षा को ग्रहण किया। जो सामन्त और मन्त्रीगण जह्नुकुमार आदि के साथ गए थे वे भी संसार से विरक्त होकर सगर राजा के साथ दीक्षित हो गए। तदुपरान्त धर्म-सारथी, धर्म-चक्रवर्ती प्रभु ने मुनियों के मनरूपी कुमुद के लिए चन्द्रिका तुल्य आज्ञामय धर्म देशना दी। प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर प्रभु ने देशना समाप्त की और उठकर देवछन्द को अलंकृत किया। तब प्रभु की चरण-पीठिका पर बैठकर मुख्य गणधर ने प्रभु के प्रभाव से समस्त संशय को छिन्न करने वाली देशना प्रभु के समान ही दी। द्वितीय प्रहर शेष होने पर जिस प्रकार मेघ बरसना बन्द करता है उसी प्रकार गणधर श्री ने भी देशना बन्द कर दी। प्रभु ने विहार करने के लिए वहाँ से विदा ली और भगीरथ राजा एवं देवगण अपने-अपने स्थान को लौट गए। प्रभु के साथ विहार करने वाले सगर मुनि ने मूलाक्षर की भाँति सहज भाव से द्वादशांगी का अध्ययन किया। वे सर्वदा प्रमाद रहित होकर पाँच समिति और तीन गुप्ति रूपी अष्ट चारित्रमाता की सम्यक् रीति से आराधना करते। सर्वदा भगवान के चरणों की आराधना के आनन्द के लिए परिषहादि कष्ट जरा भी अनुभव नहीं करते। मैं तीन लोक के चक्रवर्ती तीर्थंकर का भाई हूं, स्वयं भी चक्रवर्ती हूं ऐसा अभिमान न रखकर वे अन्य मुनियों के साथ विनीत व्यवहार करते। बाद में दीक्षित होने पर भी वे, राजर्षि तप और अध्ययन में पुराने दीक्षित मुनियों से अधिक सम्माननीय हो गए थे। क्रमशः घाति कर्म नष्ट हो जाने पर उन्हें उसी प्रकार केवलज्ञान उत्पन्न हो गया जिस प्रकार दुर्दिन व्यतीत हो जाने पर सूर्य उदित हो जाता है।

(श्लोक ६४१-६६४)

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पृथ्वी पर विचरण करने वाले अजितनाथ स्वामी के पिच्चानवे गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार साध्वियाँ, साढ़े तीन सौ पूर्वधर, एक हजार चार सौ मनःपर्याय ज्ञानी, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बाईस हजार चौरासी वादी, बीस हजार चार सौ वैक्रिय लब्धि सम्पन्न, दो लाख अट्ठानवे हजार श्रावक और पाँच लाख पैंतालीस हजार श्राविका रूप परिवार था। (श्लोक ६६२-६७०)

दीक्षा कल्याणक से एक पूर्व कम एक लाख पूर्व व्यतीत होने

पर निर्वाण-समय निकट जानकर प्रभु ने सम्मेद-शिखर की ओर विहार किया। उनकी बहत्तर लाख पूर्व की आयु समाप्त होने आई। अतः उन्होंने एक हजार श्रमणों के साथ पादोपगमन अनशन व्रत ग्रहण किया। उसी समय समस्त इन्द्रों के आसन पवनान्दोलित उद्यान की वृक्ष शाखाओं की तरह हिलने लगे। उन्होंने अवधिज्ञान से प्रभु का निर्वाण-समय अवगत किया। वे भी सम्मेद-शिखर पर्वत पर आए। वहाँ उन्होंने देवों सहित प्रभु की प्रदक्षिणा दी और शिष्यों की भाँति सेवा करने के लिए प्रभु के निकट बैठ गए। जब पादोपगमन अनशन का एक मास व्यतीत हो गया तब चैत्र शुक्ला पञ्चमी को मृगशिरा नक्षत्र आया। उस समय पर्यंकासन में स्थित प्रभु बादर काययोग रूपी रथ में बैठकर और रथ में लगे दो अश्वों की तरह बादर मनोयोग में अवस्थित हो गए। सूक्ष्मकाय योग से प्रदीप से जैसे अन्धकार समूह निवारित होता है उसी प्रकार उन्होंने बादर काययोग का निरोध किया और सूक्ष्म काययोग में अवस्थित होकर बादर मनोयोग और वचनयोग को निरुद्ध किया। तदुपरान्त सूक्ष्म मनोयोग और वचनयोग में स्थित होकर सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यान के तृतीय पद को प्राप्त हुए। पश्चात् शुक्लध्यान के चतुर्थ पद शैलेशीकरण मात्र में पाँच लघु अक्षर उच्चारण किया जा सके इतने से समय तक रहे। वहीं शेष कर्मक्षय हुए और अनन्त चतुष्टय सिद्ध हो गया एवं वे परमात्मा प्रभु ने ऋजुगति से लोकाग्र अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लिया। (श्लोक ६७१-६८२)

प्रभु कौमार्यावस्था में अठारह लाख पूर्व, राज्य स्थिति में एक पूर्वांग सहित त्रेपन लाख पूर्व, छद्मस्थावस्था में बारह वर्ष, और केवलज्ञान में एक पूर्वांग और बारह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक रहे। सब मिलाकर बहत्तर लाख पूर्व की आयु भोगकर ऋषभ प्रभु के निर्वाण के पचास लाख कोटि सागरोपम के बाद अजितनाथ प्रभु मोक्ष को प्राप्त हुए। उनके साथ अन्य एक हजार मुनिगण जिन्होंने कि पादोपगमन अनशन व्रत ग्रहण कर लिया था केवलज्ञान प्राप्त कर तीन योगों को निरुद्ध कर मोक्ष को प्राप्त किया। सगर मुनि भी केवली समुद्घात कर क्षणमात्र में अनुपदी की तरह स्वामी द्वारा प्राप्त पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए।

(श्लोक ६८३-६८७)

प्रभु के उस मोक्ष कल्याणक के समय कभी भी सुख का मुख

नहीं देखने वाले नारकी जीवों ने भी क्षणमात्र के लिए सुखानुभूति की। फिर शोक सहित इन्द्र ने दिव्य जल से स्वामी को स्नान करवाया और उनकी देह पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। तदुपरान्त उन्हें हंस-चित्र अङ्कित वसन पहराया और दिव्य अलङ्कारों से उन्हें विभूषित किया। देवताओं ने अन्य मुनियों को स्नान करवाकर अंगराग कर वस्त्रालङ्कारादि पहनाए। फिर इन्द्र प्रभु की देह को शिविका में रखकर गोशीर्ष चन्दन की काष्ठमय चिता पर ले गए। देवगण मुनियों की देह को अन्य शिविकाओं पर रखकर गोशीर्ष चन्दन-काष्ठ की अन्य चिता पर ले गए। अग्नि कुमार देवों ने चिताओं में अग्नि प्रज्वलित की। वायुकुमार देवों ने अग्नि को और प्रदीप्त किया। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने एक हजार भार कपूर और कस्तूरी एवं एक हजार घड़े घी चिता में डाले। अस्थियों को छोड़कर जब प्रभु की देह के समस्त धातु जल गए तब मेघकुमार देवों ने जलवृष्टि कर चिता को शान्त किया। प्रभु की ऊपरी, बाईं और दाहिनी ओर की दाढ़ें शक्र व ईशानेन्द्र ने ग्रहण कीं व नीचे के दोनों ओर की दाढ़ें चमर और बलि इन्द्र ने ग्रहण कीं। अन्य इन्द्रों ने प्रभु के अन्य दांत ग्रहण किए और भक्ति भरे देवों ने अस्थियां ग्रहण कीं। स्तूपादि रचना के जो कार्य करणीय थे वे समस्त विधि अनुसार कर इन्द्र ने देवताओं के साथ नन्दीश्वर द्वीप जाकर समारोहपूर्वक शाश्वत अर्हतों का अष्टाह्निका उत्सव किया। तदुपरान्त समस्त देव व देवेन्द्र स्व-स्व स्थान को लौट गए। सभी अपनी सुधर्मा नामक सभा के मध्य भाग में मानवक स्तम्भ में वज्र-मय गोलाकार डिब्बे में प्रभु की दाढ़ों को रखकर शाश्वत प्रतिमा की तरह उत्तम गन्ध, धूप और पुष्पों से निरन्तर पूजन करने लगे। इनके प्रभाव से इन्द्र के लिए सर्वदा अव्याहत और अद्वितीय विजय मङ्गल वर्त्तमान है। (श्लोक ६८८-७०१)

कमलपूर्ण मनोहर सरोवर की तरह आभ्यन्तरीण सगर चरित्र से मनोरम अजितनाथ स्वामी का यह चरित्र श्रोताओं के इह और परलोक में सुख को विस्तृत करे। (श्लोक ७०२)

षष्ठ सर्ग समाप्त